वास्तविकता और हिंदी की वांछनीयता से इनकार नहीं किया जा सका और इन दोनों के होते कोई साधन ऐसा नहीं ढूंढ़ा जा सका जिससे अंग्रेजी के स्थान पर हिंदी को लाया जा सके । शिक्षा आयोग ने यह तो माना कि जब तक विदेशी भाषा शिक्षा-माध्यम के रूप में चलेगी विद्यार्थियों को रटंत से छुटकारा नहीं मिलेगा, लेकिन फिर भी यह नहीं कहा कि अंग्रेजी के स्थान पर भारतीय भाषा अर्थात् हिंदी या और भारतीय भाषाएं लाई जाएं । शायद आयोग यह समझता था कि कहने वाले तो हम अवश्य हैं पर करने वाले तो कोई और हैं और उनकी अपनी मजबूरियां हैं, चाहे आंतरिक हों, चाहे बाहरी । हां, जब हिंदी और अंग्रेजी को साथ-साथ रखकर उन्होंने हिंदी का पक्ष लेने में असमर्थता प्रकट की तो उन्होंने एक विचारधारा को साफ तौर पर व्यक्त कर दिया—देश की एकता और भाषायी एकता दो अलग-अलग तथ्य हैं और उनका संबंध इतना भावना का नहीं जितना व्यावहारिकता का है । बात तो साफ हो गई किंतु परेशानी केवल यह रही कि प्रशासन एवं राजनीति संबंधी व्यावहारिकता शिक्षा संबंधी व्यावहारिकता की जड़ों पर ही प्रहार कर गई । उन्होंने देखा अवश्य—अंग्रेजी माध्यम का अर्थ है रटंत—वही बात जो कर्ज़न के समय से स्पष्ट थी, किंतु देखकर भी जब कहने पर आए तो कहकर भी कुछ नहीं कह सके : यदि हिंदी की मांग करेंगे तो अंग्रेजी अनिश्चित काल तक चलती रहेगी । विश्वविद्यालय स्तर की ऊंची शिक्षा का माध्यम एक भाषा होनी चाहिए, पर हिंदी हो नहीं सकती, अंग्रेजी होनी नहीं चाहिए । आयोग का चिंतन राजनीति और शिक्षाशास्त्र का विचित्र मिश्रण बन गया । द्रष्टा और स्रष्टा अर्थात् निर्माणकर्ता दो अलग-अलग सत्ताएं हो गई थीं । पहले से ही थीं । परिस्थितियां उतनी ही जटिल थीं जितनी 1948 में थीं, अंतर केवल यह था कि हमें इस जटिलता का ज्ञान हो गया था और उससे न जूझने की आदत भी पड़ गई थी । फिर भी आयोग ने जो सिफारिशें कीं वे साफ थीं और परिस्थितियों को देखते हुए वास्तविक ही थीं ।

आयोग की सिफारिशें इस प्रकार थीं :

1. भाषा अनुभूति, अनुमति और ज्ञानार्जन का साधन है । वही भाषा शिक्षा का माध्यम होनी चाहिए जो विद्यार्थियों को शिक्षा की दिशा में स्वाभाविक तरीके से ले जाए । सही देखना, सही और सशक्त तरीके से सोचना, और विचार और भाव की अभिव्यक्ति सुचारु रूप से कर सकना और करना, यह आवश्यक है । शिक्षा और माध्यम का यह ध्येय होते हुए मातृभाषा का स्थान प्रथम है ।
2. स्कूल और कॉलेज में शिक्षा-माध्यम एक ही होना चाहिए । कॉलेज स्तर पर माध्यम का बदलना अस्वाभाविक है । स्कूल स्तर पर माध्यम मातृभाषा है, वही कालेज स्तर पर भी होना चाहिए ।
3. अखिल भारतीय शिक्षा संस्थानों में आज शिक्षा-माध्यम अंग्रेजी है । वह ऐसे ही नहीं चलते रहना चाहिए । लगभग दस वर्ष के अंदर इन संस्थानों में अंग्रेजी के स्थान पर हिंदी माध्यम होना चाहिए । उच्च अखिल भारतीय संस्थानों में एक माध्यम इसलिए आवश्यक है क्योंकि वहां विद्यार्थी सारे भारत से आते हैं । वे अपने-अपने क्षेत्रीय माध्यम से कैसे पढ़ सकते हैं ?
4. हिंदी का ठोस तरीकों से विकास किया जाना चाहिए ।
5. अंग्रेजी के स्थान पर हिंदी अहिंदी-भाषी राज्यों के सहयोग और सहमति से ही आनी चाहिए और यह भी ध्यान रखा जाना चाहिए कि अहिंदी-भाषी क्षेत्रों से आने वाले विद्यार्थियों को कोई हानि न हो ।
6. अंग्रेजी एक लाइब्रेरी (स्वाध्याय) भाषा होगी । अंग्रेजी के अध्ययन-अध्यापन की ओर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिए । दूसरी विदेशी भाषाओं का अध्ययन भी होना चाहिए ।
7. कुछ संस्थान ऐसे भी हों जिनमें विश्वभाषाएं शिक्षा-माध्यम हों ताकि अंतर्राष्ट्रीय सहयोग और सद्भावना को प्रोत्साहन मिल सके ।
8. विश्वविद्यालय स्तर पर अध्यापक दो भाषाएं जानते हों । (रिपोर्ट, पृ० 13-15)

आयोग ने इस बात पर बल दिया कि शिक्षा-माध्यम-भाषा और जीवन में प्रगति के साधन की भाषा जुड़ी हुई है । इसी प्रकार शिक्षा-माध्यम और प्रशासन-माध्यम भाषाएं भी जुड़ी हुई हैं । इसी कारण यह भी आवश्यक है कि क्षेत्रीय भाषाओं को राज्य-प्रशासन की भाषाओं के रूप में स्वीकार किया जाए । जब तक क्षेत्रीय भाषाएं प्रशासन-माध्यम नहीं बनाई जाएंगी, उनको शिक्षा-माध्यम के रूप में कोई स्वीकार नहीं करेगा । आयोग ने अनुभूति, अभिव्यक्ति, शिक्षा और व्यवसाय को जोड़ा क्योंकि अंग्रेजी तो शिक्षा और व्यवसाय से जुड़ी थी । यद्यपि वह अनुभूति और अभिव्यक्ति का माध्यम नहीं बन पाई थी तो भी पूरी गति से चल ही रही थी । जब तक भाषा, नीति, शिक्षा-नीति और आर्थिक नीति का तालमेल नहीं होगा शिक्षा में कोई सुधार नहीं हो पाएगा । ऐसा लगता है कि आयोग ने यह बात पूरा विचार करके कही थी, मानो वे जानते हों कि हमारे राष्ट्रीय और शिक्षा संदर्भ में दीर्घसूत्री और शांतिप्रिय दोनों शब्द अकर्मण्यता के पर्याय बन चुके थे और हमारे शिक्षक और शासक दोनों को एक झटका देकर सतर्क और सावधान करना आवश्यक था ।

आयोग ने दोनों को झटका देने का प्रयास भी किया । उन्होंने जोरदार सिफारिश की (रिपोर्ट, पृ० 292, 15) कि विश्वविद्यालय और विश्वविद्यालय अनुदान आयोग मिलकर शिक्षा और भाषा संबंधी ऐसे प्रोग्राम बनाएं जो प्रत्येक विश्वविद्यालय एवं क्षेत्र के लिए अपनी-अपनी आवश्यकता अनुसार उचित हों । समय ? शीघ्रातिशीघ्र या अधिकाधिक दस वर्ष क्योंकि जैसे-जैसे समय बीतता है समस्या जटिल होती जा रही है । द्रष्टा के ये शब्द स्रष्टा को ढूंढ़ रहे थे । स्रष्टा अर्थात् योजना बनाने वाले थे विश्वविद्यालय अनुदान आयोग तथा विश्वविद्यालय, और निर्माता अर्थात् योजना को कार्यान्वित करने वाले थे शिक्षा संस्थान । ये सब तो सब ठीक था । पर सूत्रधार कहां था ? क्या विश्वविद्यालय और शिक्षा संस्थान सरकार के वरदहस्त के बिना सबकुछ कर सकते थे ? शिक्षा, शासन और भाषा यदि जुड़े हैं तो सूत्रधार तो भारत सरकार ही थी । घूम-फिर के पानी फिर झील में ही आ ठहरा : सरकार को अपनी भाषा-नीति स्पष्ट करनी

चाहिए । आयोग ने सबल रूप से सिफारिश की कि सरकार देश के लिए स्पष्ट भाषा-नीति का निर्धारण करे, उसको खुले और साफ, असंदिग्ध शब्दों में कहे और बलपूर्वक सशक्त शैली से कार्यान्वित करे । बिना पतवार की नाव की तरह से बहुत समय हो गया इधर-उधर डोलते । यह दिशाहीनता अब हानिकर होगी । और हमें एक कुचक्र से बचना भी है : हम कहते रहे हैं कि मांग नहीं है तो उत्पादन (निर्माण) नहीं है, और उत्पादन ही नहीं है तो मांग कहां से होगी ? मतलब यह था कि हिंदी की मांग नहीं है तो विकास नहीं हो रहा और विकास नहीं हो रहा तो मांग कैसे होगी ? यह दलील नहीं चलनी चाहिए । (रिपोर्ट, पृ० 14)

शिक्षा आयोग ने अखिल भारतीय संपर्क भाषा के मुद्दे पर भी गंभीर विचार किया और साफ शब्दों में यह कहा कि आज अंग्रेजी भारत की संपर्क भाषा है, उसका विकल्प—और अनिवार्य विकल्प—है हिंदी, और हिंदी का विकल्प नहीं है (रिपोर्ट, पृ० 13-16) । हिंदी भारत संघ की आफिशियल भाषा भी है इसलिए इसे यथासमय अंग्रेजी वाला स्थान लेना ही चाहिए, इसमें कोई दो राय नहीं है । उसके विकास के लिए प्रयास करना चाहिए और अहिंदी-भाषी क्षेत्रों में उसके प्रचार के लिए योजनाबद्ध कार्यक्रम होना चाहिए । इन क्षेत्रों को जो आश्वासन दिए जा चुके थे आयोग उनसे अनभिज्ञ नहीं था । अतः आयोग ने ठीक ही कहा कि हिंदीतर भाषा क्षेत्रों में हिंदी-प्रचार योजना की सफलता इस बात पर निर्भर करेगी कि वहां की जनता उसे स्वेच्छा से स्वीकार करती है या नहीं । यदि अनिवार्यता का अंकुश हटाकर उसे ऐच्छिक उपलब्धि बना दिया जाए तो जनता और विद्यार्थी उसे सहर्ष स्वीकार कर लेंगे । ऐच्छिक उपलब्धि के रूप में ही केरल में हिंदी योजना सफल हुई थी और बहुत सारे विद्यार्थी मलयालम के स्थान पर हिंदी पढ़ने लगे थे । आयोग ने थोड़े संशोधन के साथ तीन-भाषायी फार्मूले का समर्थन किया और यह सिफारिश की कि प्रत्येक विद्यार्थी स्कूल स्तर पर तीन भाषाएं पढ़े : दो भारतीय भाषाएं जिनमें एक हिंदी हो, और तीसरी भाषा हो अंग्रेजी, केवल लाइब्रेरी भाषा के रूप में । आयोग की भाषा संबंधी सिफारिशें इस प्रकार रहीं :

1. सरकार अपनी राष्ट्रीय भाषा-नीति का निर्धारण करे और उसे कार्यान्वित करने के लिए ठोस कदम उठाए ।
2. शिक्षा और शासन की भाषा का तालमेल बिठाया जाए ताकि शिक्षा, भाषा और व्यवसाय का वास्तविक संबंध हो सके ।
3. क्षेत्रीय भाषाएं क्षेत्रों में शिक्षा-माध्यम हों, हिंदी संपर्क-भाषा हो और अंग्रेजी लाइब्रेरी-भाषा के रूप में पढ़ी जाए ।
4. प्रत्येक विद्यार्थी दो भारतीय भाषाएं पढ़े । उनमें से एक हिंदी हो । हिंदी नीति, स्वेच्छा और सद्भावनापूर्ण हो न कि अनिवार्यतापूर्ण ।
5. अंग्रेजी का विकल्प तो हिंदी है पर हिंदी का कोई विकल्प नहीं है ।
6. इस प्रोग्राम को कार्यान्वित करने का समय दस वर्ष हो ।

किसी भी आयोग के पास देखने और कहने का अधिकार तो होता है, योजना बनाने का नहीं—योजना आयोग को छोड़कर । और अपनी दृष्टि या सिफारिशों को साकार रूप देने का अधिकार तो होता ही नहीं ।

देखना यह होगा कि आयोग ने जो बातें सिद्धांत रूप में भाषा-नीति, शिक्षा-नीति और शासन-भाषा को सामने रखकर भाषा के संबंध में कही थीं और एक योजनाबद्ध कार्यक्रम की ओर संकेत किया था वे बातें पूरी हुईं या नहीं, समय दस वर्ष का था । 1966 से 1997 तक 31 वर्ष हो गये हैं । 1969, 1979 और 1986 की शिक्षा-नीतियां भी बन चुकीं । हमारी उपलब्धियां क्या हैं ? क्या हमारी राष्ट्रीय भाषा-नीति का निर्धारण हो पाया ?

1967 का विधान-संशोधन हुआ तो अंग्रेजी को अनिश्चित काल के लिए सह-राजभाषा के रूप में माना गया । हिंदीतर क्षेत्रों को यह अधिकार दिया गया कि जब तक वे चाहें अंग्रेजी वहां राजभाषा के रूप में चलेगी और हिंदी वहां तभी लागू होगी जब वे स्वयं चाहेंगे । यह धारा हिंदी क्षेत्र में हिंदी को मुख्य भाषा माने जाने से नहीं रोकती । यदि अंग्रेजी वहां चलती भी रहे तो भी सहभाषा के रूप में ही तो चलनी चाहिए । हिंदी को हिंदी क्षेत्र में तो मुख्य स्थान मिल सकता है । केंद्रीय प्रशासन में भी हिंदी को उचित स्थान मिल सकता है क्योंकि विधान केंद्र को भी नहीं रोकता । फिर हिंदी अपना स्थान क्यों नहीं ले पा रही ? केंद्र कैनेडा की तरह से दो-भाषायी प्रशासन भी बना सकता है । हिंदी की दिशा में हिंदी क्षेत्र तथा केंद्र में संतोषजनक प्रगति नहीं हो रही । इसके विपरीत हमें कई बार अंग्रेजी का अभद्र प्रदर्शन देखने को मिलता है । उदाहरणार्थ, 18-9-89 को इन्दौर से प्रकाशित होने वाले 'दैनिक भास्कर' में एक समाचार छपा : पिछले दिनों जब वे (अर्थात् श्रीमती सरला गरेवाल, राज्यपाल, मध्य प्रदेश) दिल्ली में थीं तो उन्होंने कुछ लोगों के सामने बड़े ही हल्के ढंग से मजाक में कह दिया कि 'मुख्यमंत्री बेरा जी जब अंग्रेजी बोलते हैं तो उन्हें बड़ा आनंद आता है । सभी को पता है कि बेरा जी की अंग्रेजी अंग्रेजों की तरह नहीं है । उन्होंने कभी दावा भी नहीं किया कि वे अंग्रेज के बच्चे हैं ।' जिनके सामने यह बात कही गई उन्हें भी अच्छा नहीं लगा । एक ने धीरे से कह दिया : 'अच्छा हुआ आप हरयाणा की राज्यपाल नहीं हैं' (पृ० 5) । हमारे वरिष्ठ अधिकारी या नेता अपने को अंग्रेजी बोलने के लिए क्यों मजबूर करते हैं ? और यदि वे किन्हीं कारणों से अपने को मजबूर या आतंकित पाते भी हैं तो भी हम उनकी खिल्ली क्यों उड़ाते हैं ? ये बातें एक ही मनःस्थिति की द्योतक हैं : हमारे सिर पर से अंग्रेजी की छाया हटी नहीं है । हमारी बुद्धि को अभी भी स्वच्छंद भाषा और स्वच्छंद विचारों का प्रकाश मिला नहीं है, आलोक तो दूर की बात है । हम अपना आत्म-निरीक्षण और स्वत्वमूल्यांकन अभी भी अंग्रेजी के माध्यम से करते हैं ।

आयोग की दूसरी मान्यता थी और सुझाव था कि अनुभूति, सहज विकास और शिक्षा की भाषा एक हो । इसी कारण उन्होंने कहा था कि सेकंडरी शिक्षा और कालेज शिक्षा का माध्यम क्षेत्रीय भाषा हो । यदि बच्चे की मातृभाषा और क्षेत्रीय भाषा में कुछ अंतर हो तो प्रारंभिक शिक्षा मातृभाषा में हो और सेकंडरी स्तर पर क्षेत्रीय भाषा में हो । आज की स्थिति को यदि देखें तो

तीन प्रकार के स्कूल दिखाई देते हैं : एक फाइव स्टार स्कूल जिन्हें पब्लिक स्कूल भी कहा जाता है, दूसरे मध्यम श्रेणी के स्कूल सरकारी या मान्यता प्राप्त प्राइवेट स्कूल, तीसरे झुग्गी-झोंपड़ी बस्तियों में या गांव में चल रहे छोटे स्कूल जिनमें बच्चे नंगे पांव भी आते हैं, स्लेट-पट्टी पर लिखते हैं और स्याही में डूबी कलम को कच्छे से ही पोंछ लेते हैं। शिक्षा के दाम प्रतिष्ठानुसार और भाषा के दाम शासन के अनुरूप अर्थात् अंग्रेजी के दाम ऊंचे, मिश्रित के बीच के और मातृभाषा के दाम सबसिडी-प्राप्त। निर्णय खरीदने वाले की जेब या बुद्धि के आग्रह के अनुसार। ऐसा क्यों है ? मातृभाषा या क्षेत्रीय भाषा या हिंदी संपर्क-भाषा की मांग क्यों नहीं है ? क्योंकि इनकी साख कम है, बाजार मंदा है, भाषाविदों की कीमत तो सरकारी बोली के अनुसार है। अंग्रेजी बड़ी समृद्ध भाषा है और अंग्रेजी के माध्यम से भारत ने बहुत कुछ प्राप्त भी किया है किन्तु मात्र भाषा-ज्ञान तो वांछनीय उपलब्धि नहीं है। कॉलेजों में कुछ क्षेत्रों में तो ऐसा हो गया है कि कोई युवक केवल अंग्रेजी बोल लेता है तो उसे प्राध्यापक का स्थान मिल सकता है, उसका भाषा या साहित्य-ज्ञान चाहे कितना ही कम क्यों न हो। विषय-वस्तु के बिना भाषायी ज्ञान केवल वाग्विलास है और उसमें भी स्पेलिंग और व्याकरण की गलतियां रहती हैं। संघ की अथवा दूसरी राज्यीय परीक्षाओं में अंग्रेजी के अतिरिक्त किसी भी भारतीय भाषा में उत्तर लिखने वाले प्रत्याशी को दो नंबर का विद्यार्थी मान लिया जाता है, शायद इसलिए कि देश की भाषाएं इम्पोर्टिड नहीं हैं। चलिए, भाषा इम्पोर्ट कर भी ली तो आदमी कहां से इम्पोर्ट करेंगे ?

आयोग का सुझाव यह भी था कि हिंदी को संपर्क-भाषा के रूप में माना जाए और उसी प्रतिष्ठा के अनुरूप उसका विकास किया जाए। यदि हम रूस की केंद्रीय एवं संपर्क-भाषा रूसी का ध्यान करें तो ज्ञात होगा कि संपर्क-भाषा के रूप में उसका विकास योजनाबद्ध तरीके से किया गया था। एक तो उसकी लिपि का सुधार किया गया था। उसे आसान, सुस्पष्ट और विविध भाषाओं की ध्वनियों और लिपियों के परिप्रेक्ष्य में सक्षम बनाया गया। प्रारंभ में केंद्रीय भाषा की शब्दावली में 1000 में से लगभग 68 शब्द प्रादेशिक भाषाओं के थे। योजनाबद्ध कार्यक्रम के अनुसार 1000 में लगभग 268 शब्द प्रादेशिक भाषाओं में से केंद्रीय भाषा में लिए गए और इस प्रकार क्षेत्रीय और केंद्रीय भाषाओं को निकट लाया गया। हमारे देश में विविध भाषाओं की विविध लिपियां हैं। ये विविध लिपियां कुछ तो निकट हैं, कुछ दूर। ध्वनियां भी बहुत सारी मिलती-जुलती हैं, किंतु फिर भी ओरों में और हिंदी में अंतर है। हमारी भाषाएं अधिकतर संस्कृत से निकली हैं, शेष संस्कृत के समकक्ष मानी जाती हैं लेकिन सारी की सारी संस्कृतनिष्ठ हैं। इसी नाते उनकी शब्दावली में बहुत सारे शब्द मिलते-जुलते हैं। किंतु इन शब्दों के अतिरिक्त [illegible] सारे शब्द ऐसे हैं जो प्रादेशिक भाषाओं में ही हैं और उनका अपना ही विशेष अर्थ है। व [illegible] हिंदी भाषा में आ जाने चाहिए थे क्योंकि तभी तो वह प्रादेशिक भाषाओं के निकट आती और अपने विशिष्ट रूप का विस्तार करके मानो अपना साधारणीकरण कर लेती। यदि हम सारी लिपियों के प्रकाश में देवनागरी को और भी आसान और सक्षम बनाने का प्रयास करते तो

संभवतः क्षेत्रीय भाषा-भाषियों का हिंदी के प्रति दृष्टिकोण बदलकर व्यापक और उदार बन जाता। यही बात हिंदी-भाषी क्षेत्रों के संबंध में भी कही जा सकती है। साथ में एक और समस्या का हल निकलने की संभावना बढ़ती : बार-बार हमारे शिक्षा आयोगों और दूसरे विचारशील चिंतकों ने एक बात कही है : हिंदी यदि केंद्रीय भाषा बनती है और संपर्क-भाषा के रूप में एवं अखिल भारतीय परीक्षाओं तथा शिक्षा संस्थानों के माध्यम के रूप में अपनाई जाती है तो हिंदीतर भाषा-भाषियों को सापेक्ष हानि नहीं होनी चाहिए। यह विचार इसलिए आया कि इस हानि की आशंका हुई है। यह आशंका भी कम हो जाती। इन सब बातों के अतिरिक्त केंद्रीय भाषा के संबंध में एक और मनःस्थिति अनायास ही खड़ी हो जाया करती है : कारण चाहे मानसिक हो चाहे वास्तविक, हिंदी साम्राज्यवाद या वरिष्ठ वृत्ति की भावना दूसरे भाषा क्षेत्रों में घर करने लगती है। यदि हम लिपि तथा शब्दावली के माध्यम से हिंदी और दूसरी भाषाओं को निकट लाने का प्रयास करते तो यह आशंका कम होती, हो सकता है उठती ही नहीं। यह प्रयास ऐसा लगता है संस्कृत में हुआ था। इसी कारण संस्कृत पर्यायवाची शब्दों में बड़ी समृद्ध है। बहुत सारे शब्द ऐसे हैं जो एक ही अर्थ के वाचक होते हुए भी आज क्षेत्र विशेष में बोले जाते हैं—तत्सम रूप में। 'अमरकोश' इसी तथ्य का साक्षी है। हो सकता है ऐसे प्रयास के कारण पुत्र और पुत्तर दोनों ठेठ हिंदी के शब्द माने जाते अर्थात् एक वह हिंदी जो पंजाब में बोली जाती है, दूसरी वह जो उत्तर प्रदेश में। किंतु हम ऐसा नहीं कर पाए। लिपि, शब्दावली इत्यादि के अतिरिक्त अंतर्भाषा-कोश भी बनने चाहिए थे और सस्ते दामों में सरकार की ओर से उपलब्ध कराए जा सकते थे।

आयोग ने जब शिक्षा-माध्यम की बात की तो यह कहा कि सेकंडरी शिक्षा और कालेज अर्थात् प्रथम डिग्री शिक्षा का माध्यम एक हो और वह क्षेत्रीय भाषा हो। अधिकतर विश्वविद्यालयों में भाषा और साहित्य विषयों को छोड़कर सामाजिक विज्ञान विषयों में भी क्षेत्रीय भाषाएं माध्यम नहीं बन पाई हैं और जिन विषयों में बन भी पाई हैं वहां भी ऐच्छिक स्तर पर। इसका अर्थ यह है कि जो विद्यार्थी हिंदी या अन्य किसी भारतीय भाषा के माध्यम से पढ़ता है वह इस माध्यम को इस कारण अपनाता है कि वह अंग्रेजी में कमजोर है और भारती माध्यम से पढ़ने पर मजबूर है। बात स्पष्ट है, वह दो नंबर का विद्यार्थी है। हिंदी या अन्य भाषाएं इतिहास और नीतिविज्ञान आदि विषयों का ऐच्छिक माध्यम एम०ए० स्तर पर भी है पर अंग्रेजी-भारती जातिवाद तो वहां भी है। इसलिए जो विद्यार्थी भारती माध्यम लेते हैं वे अपनी किस्मत को कोसते रहते हैं। अधिकतर शिक्षण अंग्रेजी माध्यम से होता है और विद्यार्थियों को अपने ही बलबूते पर उसका भारती रूपांतर करना पड़ता है। विज्ञान और गणित आदि विषयों में तो भारतीय भाषाओं को माध्यम रूप में विचारना स्वप्न की सी बात है।

शिक्षा आयोग के अध्यक्ष डा० कोठारी ने शिक्षा मंत्री को रिपोर्ट भेजते समय लिखा था कि बदलती दुनिया में कल की पद्धति आज के योग्य नहीं है और आज की पद्धति आने वाले कल की आवश्यकताओं के अनुरूप नहीं रह पाएगी। उन्होंने अपनी रिपोर्ट परिवर्तनशील समाज

के लिए लिखी थी । रिपोर्ट में भाषा, शिक्षा और माध्यम संबंधी जो भी परिवर्तन वे सुझा पाए वह दस वर्ष के अंदर कार्यान्वित होना चाहिए था । उस किंचित्क्रांति को आधा बल्कि उससे भी अधिक निष्प्राण तो कर दिया 1967 के विधान संशोधन ने । फिर भी लोकतंत्र के माध्यम से हम प्रयास तो कर ही सकते थे । पर हम केवल एक परिवर्तन कर पाए : 11 वर्ष का स्कूल 12 वर्ष का कर दिया । 1942 में हमने स्कूल दस वर्ष की जगह 11 वर्ष का कर दिया था । इंटरमीडिएट कालेज टूट गए थे । कहीं 11 वर्ष का स्कूल सिस्टम लागू नहीं किया गया था जैसे उत्तर प्रदेश में । 1966 की रिपोर्ट के अनुसार हमने स्कूल में एक वर्ष और बढ़ा दिया । विषय वैसे ही रहे, कुछ अंश बढ़ा दिए गए । अध्यापक वही या वैसे ही रहे । प्रयोगशालाएं वैसी ही रहीं । एक परिवर्तन 22 वर्षों में हमने किया : इंटरमीडिएट कालेजों को स्कूल बना दिया । पुराना सिस्टम कौन-सा खराब था, थोड़ा विषय-परिवर्तन कर लेते ।

परिवर्तनशील संसार में जो बदलता नहीं वह पीछे रह जाता है । संसार नाम ही चलने वालों का है । खड़ा रहने वाला खड़ा भी नहीं रह पाता । सापेक्ष विधि से देखा जाए तो वह पीछे चला जाता है और पीछे चलता चला जाता है । 1966 की रिपोर्ट के पश्चात् विश्वविद्यालयों एवं विश्वविद्यालय अनुदान आयोग ने बदलने की कोशिश की : 1981 में श्रीमती माधुरी शाह, जो विश्वविद्यालय अनुदान आयोग की अध्यक्ष थीं, उन्होंने कहा कि हम अगले दस-पन्द्रह वर्ष में उच्चतर विश्वविद्यालय शिक्षा के तीन पक्षीय विकास के लिए एक योजना बना रहे हैं और उस योजना का अर्थ होगा एक पुरानी पद्धति के अंत का प्रारंभ, ऐसी पद्धति का अंत जिसमें अपनी सांस्कृतिक संपत्ति की अपेक्षा सतही तौर पर अंग्रेजी भाषा में उपलब्धि का मूल्य अधिक था । ऐसी मूल्यवृत्ति का अंत तो होना ही चाहिए । ऐसा भी नहीं है कि नई पद्धति में अंग्रेजी को छोड़ ही दिया जाएगा । अंतर यह होगा कि अंग्रेजी सामाजिक प्रतिष्ठा का प्रतीक न रहकर ज्ञानार्जन का माध्यम मात्र रहेगी (ट्रिब्यून, 1-8-81) । 1981 में परिवर्तनशील और स्वतंत्र भारत के उन्नतिशील समाज में राष्ट्रीय और सामाजिक प्रतिष्ठा का मानक अंग्रेजी ही थी । प्रतिष्ठा और प्रतीक इन दोनों का साथ कैसे छूटे ? यह थी हमारी स्रष्टा की समस्या । 1983 में हमारी प्रधानमंत्री श्रीमती इंदिरा गांधी ने एक बुद्धिजीवियों की गोष्ठी को संबोधित किया और निराशाजनक स्वर में कहा कि शिक्षा पद्धति में बदलाव की आवश्यकता है । उन्होंने कहा कि स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद हमने बड़ी भारी गलती की : हमने शिक्षा पद्धति और प्रशासन पद्धति को नहीं बदला (वैसा ही छोड़ दिया जैसा स्वतंत्रता-पूर्व था) । अब तो देर बहुत हो गई । बदलाव बड़ा ही कठिन है । और फिर राजनीति भी तो बीच में आ फंसती है । (टाइम्स आफ इंडिया, दिल्ली, 8-11-83)

शिक्षा आयोग ने कहा, आगे देखो । हम सबने कहा, सरकार समेत, पीछे चलो । और पीछे रह ही गए तो अब चल भी कैसे सकते हैं ? एक ने धीरे से कहा, चलने की जरूरत भी क्या है, दुनिया चल रही है, हम खड़े हैं, अपने आप चल रहे हैं, पीछे ही सही ।

31
संगति : राष्ट्र की पहचान

डॉ० कोठारी और उनके साथियों ने कहा : दस वर्ष और ले लें, अधिक से अधिक, अपनी बुद्धि से सोचना सीखें, अपनी वाणी से बोलना सीखें, जरूरत पड़े तब अंग्रेजी से भी जो चाहिए ले लें, लाइब्रेरी पास ही तो है । दिल और दिमाग पर से यह विदेशी आवरण उतार दें तो स्वच्छंद हो जाएंगे ।

रवीन्द्र ठाकुर ने कहा था : दुनिया में कोई देश ऐसा नहीं है जो विदेशी भाषा के अभिशाप से पीड़ित हो, सिवाय भारत के । गांधी जी ने कहा था : यदि मेरे हाथ की बात हो तो मैं एक वर्ष में अंग्रेजी का तख्ता पलट दूं । स्वदेशी भाषा के स्थान पर विदेशी भाषा पढ़ाना ऐसा ही है जैसे बच्चे के मुंह से मां का दूध छुड़ाकर बोतल से बनावटी दूध पिलाना ।

कार्ल मार्क्स ने कहा (अठारहवां ब्रुमायर) : लोग अपने इतिहास का निर्माण तो करते हैं पर वैसे नहीं कर पाते जैसे वे चाहते हैं । अब प्रश्न उठता है : तो वे अपने इतिहास का निर्माण कैसे कर पाते हैं ? मार्क्स कहते हैं : जैसे उनकी परिस्थितियां उनसे करवा लेती हैं । लोग अपनी परिस्थितियों को नहीं बनाते, न वे उनका स्वतंत्र चुनाव ही कर सकते हैं । ये सब तो अतीत की देन होती हैं और उन्हें उन सभी का सीधा सामना करना पड़ता है और उनके दबाव के नीचे अपने सारे काम करने पड़ते हैं । सारी गली-सड़ी परंपराएं मानो उनके दिल-दिमाग को पकड़कर उनकी इच्छाशक्ति को पंगु बनाए रखती हैं । होता यह है कि जब वे क्रांति लाना चाहते हैं, किसी अद्भुत कृति या रचना को जन्म देना चाहते हैं, तो उस समय वे अतीत को ही अपनी रक्षा के लिए खड़ा कर लेते हैं और उसी से पूछते हैं : हम क्या चाहते हैं, बतलाओ—हमें बताओ हमारे नए लक्ष्य, नए नाम, और तुम्हीं दो नए कवच, नए आयाम, नए नारे, नई भाषा, और हम फिर उसी उधार ली हुई भाषा के तथाकथित नए रूप में उलझकर निष्क्रिय हो जाते हैं ।

1947 से लेकर आज तक हमने जब-जब इस उधार ली हुई अंग्रेजी को छोड़कर अपने अंतरात्मा की आवाज को सुनने की कोशिश की वह पीछे से लपक कर छाया की तरह सामने आकर खड़ी हो गई और हमारी इच्छा और संकल्प शक्ति फिर से निष्प्राण हो गई ।

अतीत की जकड़न और भविष्य के आह्वान के बीच जब हम अपने आपको कर्तृत्व के दुष्कर और भोक्तृत्व के सुखकर मार्गों के चौरस्ते पर खड़ा पाते हैं तो एक भय होता है : मौत का । एक आशा होती है : महत्त्वाकांक्षा । महत्त्वाकांक्षा और स्वतंत्रता एक बात है । मौत का भय, जीने मात्र से प्रेम या परतंत्रता एक और बात है । महत्त्वाकांक्षा को सिद्ध करने के लिए यदि मौत

को चुनौती देनी पड़े तो हम दे डालते हैं । ऐसा ही हमारे स्वतंत्रता सेनानियों ने किया था । लेकिन महत्त्वाकांक्षा के साथ-साथ यदि मौत को चुनौती न देनी पड़े और जीवन की आशाएं और सुख के आयाम ज्यों के त्यों बने रहें तो कैसा रहे ? यह तो स्वप्नों की-सी बात है और साथ में वास्तविक भी । हम समझौता कर डालते हैं । अपनी स्वतंत्रता के लिए हमने अंग्रेजी राज को चुनौती दे दी, सिर पर कफन बांधकर । किंतु अपनी महत्त्वाकांक्षा के साथ हम विदेशी भाषा को चुनौती नहीं दे पाए । हमने उसे स्वेच्छापूर्वक किंतु अपने आपसे मजबूर होकर, उसी महत्त्वाकांक्षा से मजबूर होकर, उसे स्वदेशी मान लिया । हमने अंग्रेज की भर्त्सना की किंतु उसकी भाषा की अनुशंसा की । हमने देश को अंग्रेजों से छुड़ा लिया, पर देश की आवाज को अंग्रेजी से बांध दिया—जा की कृपा मूक नहीं बोलै—बोल सके तो बोले, हमें कोई आपत्ति भी नहीं । 1854 के बाद भी तो यही हुआ था । भारतीय भाषाएं मरीं तो नहीं पूरी कोशिश के बावजूद । कइयों ने नया सुर साधते हुए कहा : एक राष्ट्र के लिए एक भाषा ही आवश्यक नहीं । हमने मान लिया : नहीं । पर अंग्रेजी ही क्यों ? और अपनी भाषाएं क्यों नहीं ? क्षेत्रीय भाषाओं को राज्यों में आने दो, हिंदी एवं अंग्रेजी को केंद्र में आने दो या रहने दो । विकासवाद से प्राकृतिक चुनाव सिद्धांत को काम करने दो । लोकतंत्र का भी विकास होता है, विकास होने दो, किसी के लिए भी घुटन क्यों और मानवीय विकास आज के युग में प्रकृति से एक सीढ़ी ऊपर है । विकास भी योजनाबद्ध होता है । आर्थिक योजना के साथ-साथ भाषायी योजना क्यों नहीं ?

कहीं हुआ है ऐसा ? पड़ोसी को ही देखो । हमारा यह पड़ोसी है रूस, न केवल भौगोलिक दृष्टि से बल्कि राजनीतिक दृष्टि से भी । हमारे विधान के अत्यंत महत्त्वपूर्ण अंग दो हैं : एक समाजवाद, दूसरा लोकतंत्र । भाषा समाजवाद का दर्शन करना हो तो रूस आदर्श उदाहरण है ।

स्वतंत्रता और लोकतंत्र के संदर्भ में जब हम अपने भाषायी प्रश्न को देखते हैं तो हमारे सामने कुछ बातें उभरकर आती हैं :

1. हम किसी एक या दो भारतीय भाषाओं का अन्य भाषाओं पर कोई वैधानिक प्रभुत्व नहीं चाहते । हम भाषायी साम्राज्यवाद के विरुद्ध हैं ।
2. हम किसी भाषा को (अर्थात हिंदी को) किसी अहिंदी-भाषी क्षेत्र पर थोपना नहीं चाहते । हमारे वैधानिक प्रावधान बल प्रयोग के लिए नहीं हैं । हिंदी को स्वेच्छा से अपनाया जाएगा ।
3. उपर्युक्त 1 और 2 क अर्थ यह हुआ कि प्रत्येक नागरिक को व्यवहार और प्रशासन तथा शिक्षा में अपनी मातृभाषा या क्षेत्रीय भाषा के प्रयोग की स्वतंत्रता है ।

इन सब बातों के होते हुए भी हिंदी हमारी राजभाषा तो है ही, साथ में अंग्रेजी भी यथासंभव सहभाषा है । अंग्रेजी का सहभाषा बनने का अर्थ है कि हम हिंदी को सर्वमान्य नहीं बना पाए । हमारे लोकतंत्र में कहीं न कहीं कोई कमी या कमजोरी है क्योंकि आज की स्थिति में राजभाषा तो गौण है और सहभाषा मुख्य । हमारी स्वतंत्रता और नैतिकता का तालमेल कर्तव्यपरायणता

से न होकर अकर्मण्यता से ही होता रहा है ।

रूस की भाषायी स्थिति हमसे मिलती-जुलती रही है, किंतु उनकी समस्या हमसे जटिल थी और उस जटिलता के समाधान की व्यवस्था वैधानिक न होकर अधिकतर पारिवारिक थी, उदाहरणार्थ :

1. हमारे देश में 15 राष्ट्रीय भाषाएं हैं, रूस में 130 भाषाएं थीं । जैसे हमारी 15 भाषाएं वैधानिक मान्यता-प्राप्त हैं वैसे ही रूस की 130 भाषाएं मान्यता-प्राप्त थीं । उन सबका वैधानिक महत्त्व बराबर था । कोई किसी से बड़ी-छोटी नहीं थी ।
2. रूस के प्रत्येक नागरिक को यह स्वतंत्रता थी कि किसी भी भाषा में अपना कामकाज चलाए । सामाजिक व्यवहार, शिक्षा-दीक्षा तथा सरकारी काम में वह किसी भी भाषा का प्रयोग कर सकता था और उसी के प्रयोग की मांग कर सकता था । उसे हर भाषा का स्कूल तथा सरकारी संचार व्यवस्था उपलब्ध थी ।
3. किसी भाषा को कोई विशेषाधिकार उपलब्ध नहीं थे । रूसी सरकार का किसी भी विशेष भाषा के प्रति विशेष दायित्व नहीं था । रूसी सरकार सभी भाषाओं के प्रति समान दायित्व रखती थी तथा सभी भाषाओं के समान विकास के लिए कृतसंकल्प थी ।
4. रूसी रूस की वैधानिक मान्यता-प्राप्त राजभाषा नहीं थी । तब भी रूसी वहां की मुख्य राजभाषा थी । इसके अतिरिक्त रूसी अन्य क्षेत्रों एवं सामाजिक तथा राजकीय गतिविधियों में मुख्य भूमिका निभा रही थी ।
5. रूसी को सामाजिक तरीके से इतनी मान्यता कैसे मिली ? केवल अपनी क्षमता, विकास, उदारता और सद्भावना के कारण । ऐसे वैविध्य के बीच समता, समानता, एकता और सहयोग कैसे ? यह रूसी गणराज्य के 25-30 वर्ष के सामूहिक तथा निरंतर प्रयास का परिणाम था । इस प्रयास में दृष्टि, योजना और निर्माण तीनों प्रक्रियाओं का भाग रहा है ।

रूस भारत की अपेक्षा बहुत बड़ा भूखंड है । पूरे देश में 15 गणराज्य (रिपब्लिक) थे । सोवियत संघ के अधिष्ठान में वे सभी स्वतंत्र थे और संघीय विधान के अंतर्गत अपनी स्वतंत्रता के अनुरूप अपने-अपने विधान का अनुपालन करते थे । किसी भी गणराज्य के अंदर एक उपगणराज्य (आटोनोमस रिपब्लिक) भी हो सकता था । ऐसे उपगणराज्य थे और वे संघ के अधिष्ठान में तथा गणराज्य के तत्त्वावधान में अपनी राज्यीय स्वतंत्रता का अनुपालन करते थे । गणराज्य के ही अंदर उपगणराज्य के अतिरिक्त स्वतंत्र (आटोनोमस) क्षेत्र भी हो सकता था और ऐसे क्षेत्र थे । ये क्षेत्र भी गणराज्य और संघ के विधान के अंतर्गत ही अपने विधान के अनुसार अपनी स्वतंत्रता का अनुपालन करते थे । स्वतंत्र क्षेत्रों से लेकर उपगणराज्य, गणराज्य तथा संघ पर्यंत सोवियत संघ एक ऐसा सत्ता सिस्टम था जिसमें व्यक्ति से लेकर समष्टि तक सबके

अपने-अपने अधिकार और कर्तव्य थे । किसी भी देश में, चाहे वह साम्यवादी हो अथवा कुछ और, अपनी-अपनी राजनीतिक मान्यताओं के अनुसार वैयक्तिक स्वतंत्रता एवं अधिकार तथा सामाजिक दायित्व के बीच एक संतुलन बनता है जो वैधानिक रूप से स्वयंसिद्ध होता है । सोवियत संघ में 15 संघीय गणराज्यों के अतिरिक्त और उन्हीं के अंतर्गत 15 उपगणराज्य तथा 5 स्वतंत्र क्षेत्र थे । इस प्रकार रूस में जहां उत्तरोत्तर वैधानिक इकाइयां थीं जिनसे मिलकर संघ बना था वहीं पर अनेक जातियां, संस्कृतियां, परंपराएं, धर्म तथा भाषाएं थीं । इस विविधता के अंदर भाषायी अनेकता तो थी ही लेकिन साथ ही साथ एकता भी थी । रूसी भाषा वहां उसी स्थिति में थी जिसमें हिंदी भारत में है, पर वह भूमिका वही निभा रही थी जो अंग्रेजी भारत में निभा रही है । भारत में अंग्रेजी तो हमारी परिस्थितियों की देन है । वह हमारी परतंत्रता में पनपी और स्वतंत्र संकल्पाभाव में जमी रही है । वहां पर रूसी उनके स्वतंत्र संकल्पों और सामाजिक आकांक्षाओं का प्रतीक थी । वहां की संघीय व्यवस्था समाप्त तो हो गई पर सारी दुनिया की नजर उन पर लगी रही है और आशा यही बनी रही कि उनकी संघीय सत्ता किसी न किसी रूप में बनी रहेगी । केवल संघ और गणराज्यों के बीच स्वतंत्रता और अधिष्ठान में कुछ घटत-बढ़त करके नये तालमेल का ही प्रश्न था । यह प्रश्न प्रत्येक संघ में समय-समय पर उठता ही रहता है । फिर भी वैधानिक परिवर्तन जो हुआ सो हुआ, भाषायी संगति के स्थान पर विसंगति का आना कठिन है । यही संगति हमारे लिए प्रेरणा का स्रोत हो सकती है क्योंकि जो भी परिवर्तन वहां आए, भाषा तो हर गणराज्य में अपनी ही थी ।

राष्ट्र एक भावना है या व्यवस्था ? भावना का व्यवस्थित रूप है या व्यवस्था का भावात्मक प्रतिष्ठान ? इनमें से कोई सा भी रूप राष्ट्र हो सकता है, परंपरा, परिवेश तथा/अथवा परस्पर संकल्प एवं आयोजन पर निर्भर करता है । भारत 1947 से पूर्व एक भावना था । 'वन्देमातरम्' 1947 से बहुत पूर्व लिखा गया था । 1947 में एक व्यवस्था बन गया और बनते-बनते भावना आघातग्रस्त भी हो गई थी । तब से अब तक हम भावनात्मक प्रतिष्ठान की खोज में तरह-तरह के प्रयास कर रहे हैं, कतरब्यौंत, उधेड़बुन, ग्रह-विग्रह, सभी कुछ । भाषा भी राष्ट्रीय मुद्दा ही है जो सुलझा नहीं है । भाषा के क्षेत्र में हम सिद्धांतवादी हैं या क्रियाशील ? सिद्धांतवाद और क्रियाशीलता ये दोनों सापेक्ष हैं : सिद्धांत के आधार पर कार्ययोजना बनाई जाती है—सिद्धांत पर सहमति हो जाए तो, अथवा कार्यशील होकर योजनाबद्ध काम करना ही हितकर है क्योंकि योजना के परिणामस्वरूप ही सिद्धांत उभरकर सामने आ जाएगा । रूस ने कार्यशीलता का मार्ग अपनाया और उसी के आधार पर सिद्धांत-प्रतिपादन किया । हम कार्य से पहले सिद्धांत में उलझे और उलझे ही रहे । रूस आगे निकल गया, हम पीछे रह गए ।

1917 की क्रांति के साथ ही रूस अपनी परंपराओं को तोड़कर एक नए इतिहास का निर्माण करने के लिए कृतसंकल्प आगे बढ़ा । उसका आधार था साम्यवाद, साधन था लोकशक्ति और लक्ष्य था आर्थिक, सामाजिक और राष्ट्रीय उन्नति । लोकशक्ति को राष्ट्र-निर्माण के कार्य में जोड़ने का एकमात्र साधन था लोक-संपर्क और लोक-संचार । संगति, संवाद और सौमनस्यता

ये तीनों सामूहिक सफलता के सूत्र हैं । सारी जनता को नया संदेश देने के लिए और राष्ट्रीय काम में जोड़ने के लिए रूस को जरूरत पड़ी लोकभाषा की, ताकि उन सबसे बात की जा सके और वे भी आपस में बात कर सकें । राष्ट्र के वैधानिक संगठन के साथ ही तत्काल भाषा संबंधी योजनाबद्ध काम शुरू हो गया । यदि रूस राष्ट्रभाषा के सिद्धांत पक्ष में उलझ जाता तो शायद उलझा ही रहता । उन्होंने क्रियात्मक और प्रयोगात्मक तरीका अपनाया ।

रूस ने भाषा-स्थिति का सिंहावलोकन किया । कितनी ही भाषाएं रूस में थीं, देश-प्रदेश की भाषाएं, पूरी 130 और उससे भी अधिक । एक ऐसा पिटारा जिसे खोलना तो आसान था पर संभालना कठिन, शुक्र यह कि समस्या को असंभव नहीं माना गया । बीस भाषाओं का अपना लिखित रूप था । चार भाषाओं की अपनी लिपि थी : ये थी रूसी, उक्राइनियन, ज्योर्जियन और आरमीनियन । कुल लिपियां थीं पांच : रूसी, लातीनी, विगुर, मंगोलियन, हिब्रू और अरबी । 110 भाषाएं लिखी ही नहीं जाती थीं : भारोपीय, अलताई, यूराली और इब्री-काकेसियन । इनके अतिरिक्त कुछ एकाकी भाषाएं भी थीं जैसे एस्कीमो । प्रत्येक गणराज्य के अंदर कई-कई जातियों के लोग रहते थे । इन सभी जातियों, प्रदेशों, परंपराओं और भाषाओं को एक सूत्र में पिरोना रूस की राष्ट्रीय समस्या थी ।

जनता को राष्ट्र के पुनर्निर्माण में जोड़ने के लिए संपर्क और संचार आवश्यक था । संपर्क और संचार के लिए साक्षरता अभियान चलाया गया । रूस में साक्षरता का स्तर बहुत नीचा था । 1920 के आस-पास साक्षरता-स्तर उन प्रदेशों में सबसे नीचे था जिनकी भाषा का कोई लिखित रूप नहीं था । कुछ आंकड़े देखकर रूस के शिक्षा-स्तर का अनुमान लगाया जा सकता है :

उत्तरी भाग	:	0%
वोलगा तथा मध्य एशिया भाग	:	1.2%
आजरबायजान	:	4.5%

1926 में सारे रूस में साक्षरता-स्तर 3.7% से लेकर 25.2% तक पहुंचा । 1937 तक अर्थात् बीस वर्ष में अनथक परिश्रम के साथ रूस के सभी प्रदेशों ने शत-प्रतिशत साक्षरता का लक्ष्य पूरा कर लिया । रूस ने जो काम बीस वर्ष में पूरा कर लिया हम उसे 1997 तक अर्थात् पचास वर्ष में पूरा करने की योजना पर विचार कर रहे हैं ।

साक्षरता की पहली समस्या है भाषा का लिखित रूप । दूसरी समस्या है लिपि का आसान तथा यथाध्वनि होना । और तीसरी समस्या है कि पढ़ाएं तो कौन-सी भाषा ।

तीसरे प्रश्न के साथ एक और अत्यंत महत्त्वपूर्ण प्रश्न जुड़ा हुआ है : क्या सारे देश की एक ही राजभाषा हो ? और यदि एक ही राजभाषा हो तो वही क्यों न पढ़ाई जाए ? भारत में भी हमने एक ही राजभाषा अपनाने का निर्णय लिया था, और वह भाषा थी हिंदी । वही निर्णय 1965 तक कार्यान्वित हो जाना चाहिए था । हिंदी 1965 में नहीं आ पाई । साथ में 1967 में अंग्रेजी और उसके साथ जुड़ गई और क्योंकि अंग्रेजी मुख्य स्थान पर आसीन थी वह स्थान उसने छोड़ा नहीं । रूस में ऐसा नहीं किया गया क्योंकि अंग्रेजी जैसी किसी भी भाषा के समकक्ष

कोई भाषा वहां सारे देश में प्रचलित थी ही नहीं । वहां एक राजभाषा का प्रश्न उठाया तो गया पर उसका उत्तर लेनिन ने मानो ऐक्सरे-दृष्टि से दे दिया । लेनिन जानते थे कि महत्त्वपूर्ण समस्याओं का हल भी महत्त्वपूर्ण होना चाहिए क्योंकि साध्य और साधन का रिश्ता अटूट है । प्रश्न को उलझाया नहीं, उन्होंने उसे प्रारंभ में ही सुलझा दिया । उन्होंने एक लेख लिखा । शीर्षक था—'क्या एक राजभाषा आवश्यक है ?' उन्होंने इस लेख में कहा कि तूर्जनीफ, तालस्ताय, द्रोब्रल्युबोफ तथा चर्णश्यूस्की की भाषा महान् है और हम चाहते भी हैं कि रूस के प्रत्येक नागरिक को इस महान भाषा को पढ़ने का अवसर मिले, पर हम जोर-जबरदस्ती जैसे साधन से दूर रहेंगे । हम यह मानते हैं कि यदि आप जनता को स्वर्ग में भी ले जाना चाहें तो डंडे के जरिये नहीं ले जा सकते । एक राजभाषा यदि अनिवार्य हो तो विवशता-नीति परिणामस्वरूप आ ही जाती है और वह हम चाहते नहीं।(लेख-संकलन, 20, पृ० 72)

यदि एक ही राजभाषा आवश्यक नहीं तो उसका पढ़ना भी अनिवार्य नहीं । और यदि एक भाषा अनिवार्य नहीं तो साक्षरता अभियान में कौन-सी भाषा पढ़ाई जाए ? जो जिसकी भाषा है वही । हम पहले कह चुके हैं कि 130 भाषाओं में से केवल 20 का कोई न कोई लिखित रूप था । अतः रूस की प्रथम समस्या थी—भाषाओं को लिखित रूप देना ।

जब अलिखित भाषाओं को लिखने का प्रश्न आया तो पहली समस्या थी कि कौन-सी लिपि में उन्हें लिखा जाए ? उनको रूसी लिपि में भी लिखा जा सकता था । रूसी लिपि को नहीं अपनाया गया । उन्होंने फिर दूरदृष्टि से देखा । रूस की समस्या केवल यही नहीं थी कि अलिखित भाषाओं को लिखित रूप दिया जाए, उनकी बड़ी समस्या यह थी कि रूस की स... भाषाओं के निकट कैसे लाया जाए ? यदि भाषाएं निकट आ जाती हैं तो जनता अपने आप निकट आ जाएगी और सभी प्रदेश तथा जातियां एक ही मुख्य धारा की ओर अग्रसर होंगे । इस दिशा में चलना है तो रूसी लिपि उपयुक्त कभी नहीं होगी क्योंकि इस नीति को सारी भाषाओं और जातियों का रूसीकरण समझा जाएगा । सरकार चाहती थी कि यह आशंका तो कभी खड़ी ही न हो और साथ में जनता भी संघटन-प्रक्रिया में एकजुट होकर काम करे । इसलिए यदि एक लिपि चाहिए और रूसी लिपि नहीं चाहिए तो क्या करें ? उन्होंने लातीनी लिपि को अपनाने का फैसला कर लिया ।

रूस की भाषाएं लातीनी लिपि में लिखी गईं । जो लिखित रूप में थी ही नहीं उन्हें लिखने में तो कोई कठिनाई सामने आई नहीं । किंतु जो लिखी जाती थी और लिपि कोई और थी जैसे अरबी या हिब्रू, उनके क्षेत्र में कठिनाई अवश्य आई । लिपि और भाषा तो जुड़ी होती है और उनके साथ जुड़ा होता है उन दोनों का आदि स्रोत । लिपि बदलते ही ऐसा लगने लगता है मानो भाषा को अपनी ही आत्मा से छीनकर दूसरा शरीर दिया जा रहा हो । कुछ भाषा-भाषियों की ओर से विशेषकर अरबी लिपि वालों की ओर से लातीनी लिपि अभियान का विरोध किया गया परंतु उनको मना लिया गया और उन्होंने लातीनी को मान लिया क्योंकि साथ-साथ उन्होंने अरबी लिपि को भी छोड़ा नहीं । इस प्रकार उन्होंने अपनी पहचान को भी बनाए रखा और मुख्य धारा का

भी स्वागत किया । 1920 के पश्चात् बहुत सारे प्रदेशों ने लातीनी लिपि को मानकर अपना लिया । आजरबायजान ने इसे 1922 में अपना लिया । उत्तरी काकेसस क्षेत्र ने अरबी के साथ-साथ 1926 में लातीनी को अपनाया । 1930 के आस-पास सभी भाषा-भाषियों ने लातीनी को अपना लिया । लिपि एकीकरण हो गया ।

लातीनी माध्यम से लिपि एक हो तो गई पर रूस की दिशा तो रोम की ओर नहीं थी । लातीनी केवल एक आयाम था । लक्ष्य था एक लिपि जो रूस में ही जन्मी हो । ऐसी लिपि वही हो सकती थी जिसमें देश के अधिकतर भाषाविद् और लेखक लिखते थे । ध्येय यह था कि उस लिपि के रूप में देश की भाषाओं को एक-दूसरे के निकट लाया जाए और भाषाओं को निकट लाकर देश की जनता को निकटतम लाया जाए । उनकी दृष्टि रूसी लिपि पर जमी थी क्योंकि रूसी भाषा और रूसी लिपि ऐतिहासिक और सामाजिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण तो थीं ही । भारत के संदर्भ में हम कह सकते हैं कि रूस में उसकी स्थिति वही थी जो भारत में हिंदी की है । केवल अंतर यह है कि हिंदी को हमने वैधानिक रूप से राजभाषा माना है, रूसी को वैधानिक रूप से एकमात्र राजभाषा नहीं माना गया था । उसे अपना स्थान तो लेना था किंतु विधान के रास्ते से नहीं । जो लक्ष्य साम के रास्ते से मिल सके उसके लिए वैधानिक बल प्रयोग क्यों ? अतः रूसी भाषा को स्थान-विशेष के लिए तैयार किया गया और उसको और सभी भाषाओं के निकट लाया गया ताकि अन्य भाषाओं और उसके बीच यदि कोई अंतर था भी तो उसे कम करके मानसिक खाई को पाटा जा सके ।

क्रांति के तत्काल बाद जहां यह फैसला किया गया था कि रूस के लोगों पर कोई भाषा लादी नहीं जाएगी वहां यह भी माना गया था कि अंततोगत्वा जनता को एक धारा में लाने के लिए साक्षरता, भाषा और शिक्षा को ही माध्यम बनाया जाएगा । इसलिए अक्तूबर क्रांति के दो मास के अंदर ही दिसबंर 1917 में रूसी भाषा-भाषियों ने ही पहल की और एक वैधानिक निर्णय लिया कि रूसी लिपि को इतना आसान और ध्वनिसंगत बना दिया जाए कि उसे बिना किसी कठिनाई के सीखा, समझा और लिखा जा सके । शायद इसी कारण वे समझ गए थे कि हालांकि कुछ समय के लिए रोमन (लातीनी) लिपि से काम लिया जा सकता है और लेना पड़ेगा भी, किंतु वह लिपि पूर्णरूपेण सोवियत भाषाओं के लिए उपयोगी नहीं हो पाएगी । परिणामस्वरूप जहां एक तरफ अलिखित और लिखित भाषाओं को निकट लाने के लिए उन्होंने लातीनी लिपि से काम लिया, साथ ही साथ रूसी लिपि का सुधार करने के लिए पूरे प्रयास किए । लिपि वह जिसमें पढ़ना-लिखना आसान हो और जिसे आसानी से सीखा जा सके । इसी दिशा में रूसी लिपि का परिवर्तन करना था । 1917 से 1930 तक रोमन लिपि के माध्यम से भाषाओं पर काम होता रहा । इस काम के लिए विशेषकर तुर्की वर्णमाला के लातीनीकरण के लिए एक केंद्रीय समिति बनाई गई थी । जब वह समिति अपना काम कर चुकी तो उसी को 1930 में नई अखिल सोवियत केंद्रीय वर्णमाला समिति के रूप में बदल दिया गया । इस समिति का काम था रूसी लिपि का सुधार और सब भाषाओं को रूसी में लिखना । इस समिति ने 1936 तक अपना काम

कर लिया और रूसी भाषा के अतिरिक्त इस लिपि को सभी क्षेत्रीय भाषाओं के उपयुक्त बना दिया । 1936 से अलग-अलग भाषाओं ने इसे अपनाना प्रारंभ किया । कबार्दियो ने इसे 1936 में अपनाया, दागिस्तान ने 1937 में, अदीगी ने 1937 में, तुर्कमीनिया ने 1939 में और आजरबायजान ने 1940 में । 1940 के आस-पास सारी सोवियत भाषाओं का रूसी लिपि के माध्यम से एकलिपीकरण हो गया ।

लिपि सुधार और एकलिपीकरण रूसी सामूहिक भाषा योजना का महत्त्वपूर्ण अंग था, पर था तो अंग ही । संपूर्ण भाषा योजना का लक्ष्य तो सभी सोवियत भाषाओं को निकट लाना था ताकि रूसी समेत सभी भाषाओं का केंद्रीभूत एक साधारण रूप निखर सके और वही साधारण रूप सारे सोवियत लोगों की राष्ट्रीय निधि बन सके । यही साधारण रूप सोवियत जनता के लिए नए आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक परिवेश में एक धारा में आने का साधन भी था और उसी धाराभिमुख गति का प्रतीक एवं मानक भी था । सोवियत भाषाएं निकट कैसे आएं और एक सधारण केंद्रीय भाषा के रूप के प्रतिरूप कैसे बने ? यह समस्या अपने आप में अत्यंत महत्त्वपूर्ण थी । समस्या कठिन भी थी क्योंकि ऐसी प्रक्रिया में परंपरागत तथा बहुप्रतिष्ठ भाषाएं दादी अम्मां का रोल अदा करने लगती हैं । भारत में कुछ ऐसी ही शंकाएं हिंदी के संबंध में खड़ी होती रही हैं । हम राधाकृष्णन् आयोग के संदर्भ में देख चुके हैं । हिंदी के पक्षधरों ने तो यह कहा कि हिंदी बहुप्रतिष्ठ भाषा है तो इसी का राष्ट्रभाषा/ राजभाषा बनने का दावा मानने योग्य है, और किसी भाषा का प्रश्न ही क्यों उठे ? दूसरे कई भाषा-भाषियों ने कहा कि हमारी भाषा हिंदी की अपेक्षा अधिक या कम से कम हिंदी के बराबर लब्धप्रतिष्ठ है, तो हिंदी ही क्यों ? इसीलिए हिंदी और हिंदीतर भाषाओं के प्रतिष्ठावाद में अंग्रेजी अपने स्थान पर बनी रही और भाषाहित के चक्कर में जनहित पीछे रह गया । सोवियत संघ में भाषा प्रतिष्ठावाद को उठने नहीं दिया गया और विवाद के स्थान पर भाषा सौजन्य तथा पारिवारिक पारस्पर्य को आधार मानकर काम किया गया । इस योजना में प्रत्येक भाषा का आदर किया गया और अल्पप्रतिष्ठ और क्षेत्रीय भाषाओं तथा बहुप्रतिष्ठ और वृहत्क्षेत्रीय भाषा अथवा भाषाओं को परस्पर निकट लाने का प्रयत्न किया गया । एकलिपीकरण इसी बृहद् योजना का अंग था, पर उस लिपि ने दादी अम्मां होने का दावा नहीं किया । इसीलिए अक्तूबर-क्रांति के दो महीनें के अंदर उसके सुधार का कार्यक्रम चालू कर दिया गया था । लातीनीकरण भी उसी योजना का एक आयाम था । लातीनीकरण और रूसी लिपि सुधार योजना ने यह सिद्ध कर दिया कि रूसी बहुप्रतिष्ठ होते हुए भी और भाषाओं के समकक्ष है और सब भाषाओं के संगठन और संगति के लिए सहचार की आवश्यकता है, न कि नेतृत्व और अनुसरण की । सहचार के लिए चाहिए आदान-प्रदान, सहयोग । सहयोग के आधार पर भाषा-विकास की प्राकृतिक अथवा स्वाभाविक प्रक्रिया और मानवीय अथवा योजनाबद्ध प्रक्रिया के बीच सामूहिक तालमेल हो सकता है अन्यथा योजना के विरुद्ध स्वाभाविक विकास-प्रक्रिया की ओर से मनोवैज्ञानिक आधार पर प्रतिक्रिया हो सकती है । हिंदी तथा हिंदीतर भाषाओं की परस्पर क्रिया-प्रतिक्रिया का यह कारण भी हो सकता है—कारण चाहे वास्तविक हो या काल्पनिक,

किंतु कल्पना तथा आशंका भी तो मानसिक वास्तविकता है जिसे नकारा नहीं जा सकता ।

सोवियत संघ में भाषा सहयोग और सुसंगत विकास की योजना बनाई गई । लिपि-संबंधी पक्ष को हम पहले ही ले चुके हैं । लिपि के अतिरिक्त दूसरा महत्त्वपूर्ण अंग है शब्दावली । शब्दावली का संबंध वस्तु, परिस्थिति और प्रयोजन से होता है । कोई भी शब्द प्रयोग में वस्तुनिष्ठ, परिस्थिति-सापेक्ष और प्रयोजनबद्ध होता है । उदाहरण के लिए पानी शब्द को लें । परिस्थिति के अनुसार अवांतर भेद से पानी के अर्थ अलग-अलग हो सकते हैं जैसे कुएं का पानी, समुद्र का पानी, नदी का पानी, नाले का पानी, ताल-तलैया का पानी, वर्षा का पानी, बर्फ का पानी, पहाड़ का पानी, इत्यादि । कुएं का पानी, शिवरात्रि मेले पर प्याऊ का पानी, ठंडा जल, दक्षिण का पानी नीरम् इत्यादि । ये सब शब्द केवल संस्कृत शब्द पानीयम् के रूपांतर हैं । प्रत्येक भाषा की शब्दावली अपने आप में वस्तुनिष्ठ है और अपना ही स्वत्व रखती है । विभिन्न भाषाओं का रिश्ता साहचर्य का रिश्ता है—ऊंच-नीच, बड़ी-छोटी का नहीं । साहचर्य में सहयोग होता है, बड़ी-छोटियों में सहयोग कम होता है । बड़ी-छोटी भाषाओं की जहां आशंका आ जाती है वहां आशंका के साथ-साथ भय का भूत खड़ा हो जाता है और भय के साथ भाषायी राजनीति और कूटनीति का जन्म होता है । फिर ऐसे शब्दों का निर्माण होता है जैसे भाषायी साम्राज्यवाद, सामंतवाद, बिग ब्रदर, रानी-दासी इत्यादि । आम तौर पर मानव-मानस पूर्वाग्रहों और दुराग्रहों का शिकार हो जाता है । अतः सोवियत संघ जैसे या भारत जैसे देश में राज्यव्यवस्था-विस्तार के साथ-साथ संवाद-विस्तार (भाषायी एकता) और सौमनस्य (मानसिक एकता) का विस्तार होना चाहिए । तभी मानवीय योजना और स्वाभाविक विकास का मेल होता है अन्यथा योजना और विकास का तालमेल बिगड़ जाता है । सोवियत संघ में इस तालमेल को बनाए रखने के लिए भाषा-साहचर्य और सहयोग की नीति अपनाई गई और शब्दावली संबंधी योजना बनाई गई । भाषायी सहयोग के साथ अनायास ही सामाजिक और सांस्कृतिक सहयोग भी हो गया । भाषा के माध्यम से सोवियत संघ एकता और विकास की दिशा में अग्रसर हुआ ।

सहयोग की नीति से सोवियत भाषायी विकास योजना का अर्थ हुआ :

प्रत्येक सोवियत भाषा का लिपि, शब्दावली, व्याकरण, शिक्षा, प्रशासन और अनुसंधान के क्षेत्र में वस्तुनिष्ठ, संस्कृतिसिद्ध राष्ट्रसंघीय दिशा में प्रयोजनार्थक विकास ।

समय ? लगभग एक पीढ़ी अर्थात् 25-30 वर्ष । लिपि की समस्या उन्होंने 1940 तक 23-24 वर्ष में हल कर ली थी । सभी भाषाओं और भाषा-भाषियों के विकास और परिवर्द्धन के लिए 25-30 वर्ष का समय काफी था । इस काम में सोवियत संघ के सभी बुद्धिजीवियों की सेवाएं मांगी गईं । विद्वान, लेखक, अध्यापक, भाषाविद्, शिक्षाशास्त्री, मनोवैज्ञानिक सभी तो इस काम में जुट गए । काम था अविकसित भाषाओं का विकास और विकसित भाषाओं का परिवर्द्धन, सब भाषाओं का पारस्परिक संवर्द्धन और प्रत्येक भाषा के अपने रूप का सम्मान रखते हुए सबका एकमुखी सहयोग, संघीय योगदान और सर्वांगीण विकास । सोवियत बुद्धिजीवी इस सामाजिक और संघीय काम में जुट गए ।

सोवियत संघ केंद्रीय समिति ने क्षेत्रीय भाषाओं की शब्दावली के विकास, निर्माण तथा अंतर्भाषायी शब्दावली आदान-प्रदान के क्षेत्र में काम किया । विकसित, विकासशील एवं अविकसित भाषाओं के सहयोग की प्रक्रिया में तो प्राकृतिक नियम ही काम करता है । जिस भाषा का जिस भाषा से कोई विचार या तथ्य या अनुभूति मिलती है वह भाषा उसी से ज्ञानार्जन के साथ-साथ शब्दार्जन भी कर लेती है । इसी नियम के अंतर्गत हिंदी में कितने ही अंग्रेजी और अरबी-फारसी के शब्द आ गये हैं । इसी प्रकार अंग्रेजी में कितने ही ग्रीक, लातीनी, फ्रांसीसी तथा भारतीय भाषाओं के शब्द आ गए है । सोवियत संघ में रूसी भाषा सबसे अधिक विकसित थी । अतः अन्य भाषाओं की शब्दावली में रूसी शब्दों का आना स्वाभाविक था और उसे योजनाबद्ध तरीके से स्वीकारा गया ।

केन्द्रीय समिति ने विभिन्न भाषाओं के शब्दकोश बनाने की दिशा में सराहनीय काम किया । 1930 में रूसी-चेकिन शब्दकोश तैयार कर लिया गया । 1927-34 में आर्सेशन-रूसी-जर्मन शब्दकोश, 1934 में रूसी-ताजीक शब्दकोश तथा पहाड़ी-माड़ी-रूसी-शब्दकोश, 1936 में एविको-रूसी शब्दकोश, 1936 में ही रूसी-नेनेत शब्दकोश, और 1942 में रूसी-कजाकी शब्दकोश तैयार कर लिया गया । 1940-42 तक ही जहां एकलिपीकरण प्रोग्राम पूरा हुआ उसी समय में सहभाषी शब्दकोश भी तैयार हो गए । एक पीढ़ी के समय में यह योजनाबद्ध काम संपन्न हो गया ।

द्विभाषायी और त्रिभाषायी शब्दकोश बनते समय एक लिपि के माध्यम से विभिन्न भाषाएं शब्दावली की दृष्टि से निकट आ रही थीं । विकसित भाषाओं के शब्द अविकसित भाषाओं में आ रहे थे क्योंकि ये भाषाएं अपना एकांत छोड़कर परस्पर संचार और सहयोग के माध्यम से एक-दूसरे के निकट आने लगी थीं । जब से (1917 से) भाषायी योजना बनी थी तभी से क्षेत्रीय भाषाओं का विकास और सभी भाषाओं का पारस्परिक विकास लोक-संचार-माध्यम से होने लगा था । यह भाषायी विकास आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक पुनर्निर्माण एवं विकास के साथ ही चल रहा था । रूसी भाषा सबसे अधिक विकसित थी । अतः उसके शब्द प्रादेशिक भाषाओं में आने लगे, विशेषकर वे शब्द जो इन क्षेत्रों में विकासशील जीवन और प्रगतिशील विचारों को अभिव्यक्त करने में प्रयोगात्मक भूमिका निभा रहे थे । प्रादेशिक भाषाओं की शब्दावली में 1924 में 1000 में से 14 शब्द रूसी भाषा के थे । 1930 में यह संख्या 14 से बढ़कर 68 हो गई । 1930 में केंद्रीय समिति ने भाषाओं की लातीनी लिपि के स्थान पर सीधी-सुथरी रूसी-आधारित सोवियत लिपि का प्रयोग करने की योजना बनाई थी जो करीब 1940 में पूरी हो गई थी । 1940 में प्रादेशिक भाषाओं में 1000 शब्दों में 236 रूसी भाषा के शब्द आ गए थे । याद रहे कि ये शब्द रूसी भाषा के किसी प्रकार के राजनीतिक प्रभुत्व के कारण नहीं आए किंतु उसकी भाषायी समृद्धि के फलस्वरूप विकास प्रक्रिया के रास्ते से आए थे । वर्तमान समय में प्रादेशिक भाषाओं की वैज्ञानिक, तकनीकी, आर्थिक, समाजशास्त्रीय, राजनीतिक, शिक्षा संबंधी शब्दावली में 70 से 80 प्रतिशत शब्द रूसी भाषा के हैं । यह सहयोग एक-दिशाई नहीं है,

दोनों तरफ चलता है । बहुत सारे शब्द प्रादेशिक भाषाओं से रूसी भाषा में आ गए हैं । ये शब्द वे हैं जो ऐतिहासिक, भौगोलिक अथवा सांस्कृतिक स्थिति-विशेष से संबंध रखते हैं और अपना स्थानीय महत्त्व और सौंदर्य रूसी भाषा को तत्सम या तद्भव रूप में प्रदान करते हैं । इस परस्पर आदान-प्रदान के कारण अल्पक्षेत्रीय तथा वृहत्क्षेत्रीय भाषाओं के बीच, विशेषकर प्रादेशिक और रूसी भाषा के बीच, ध्वनि, शब्दावली, व्याकरण तथा आंतरिक गठन के अंदर पारस्परिक परिवर्तन होते रहे हैं और वे अधिकाधिक निकट आती रही हैं और आ रही है ।

सोवियत संघ में यह भाषा-क्रांति कैसे आई ? इसका रहस्य किसी बहुप्रतिष्ठ या लब्धप्रतिष्ठ भाषा के प्रभुत्व में नहीं छिपा था बल्कि सोवियत संघ की भाषा-सेवा नीति के अंदर निहित था । क्रांति के बाद सोवियत केंद्रीय सत्ता को सुव्यवस्था और सुविकास की दिशा में चलना था । ऐसा वह सोवियत प्रदेशों तथा क्षेत्रों की जनता को साथ लेकर चलने के रास्ते से ही कर सकती थी । किसी जाति या प्रदेश की अविकसित भाषा को उखाड़कर और उसके स्थान पर किसी विकसित भाषा को रख देने से यह आवश्यक नहीं था कि उस क्षेत्र या प्रदेश या जाति के लोग सरकार या राष्ट्र के साथ मिलकर चलते । अतः छोटे से छोटे प्रदेश को भी साथ लेने का अर्थ है उसे उसी के रूप में अपनाना, उसकी सहायता करना और उसे अपने विकास के लिए स्वयं कार्य करने का प्रोत्साहन देना ताकि वह दास या निष्क्रिय वृत्ति का शिकार न बने और न ही विरोध तथा विद्रोह का रास्ता पकड़े । सोवियत संघ ने सभी भाषाओं को विकास का माध्यम माना और उनकी सेवा अर्थात् विकास का संकल्प लिया । सभी क्षेत्रों, जातियों और वर्गों का विकास उन्हीं की भाषा के माध्यम से किया । संघ ने एक बहुमुखी प्रोग्राम बनाया ताकि विभिन्न क्षेत्रों तथा वर्गों के परस्पर और सापेक्ष अंतर कम हो सकें और वे सब समान रूप से संघ के विकसित जीवन का अंग बनकर लाभ उठा सकें ।

प्रोग्राम की कुछ झांकियां यहां दी जा रही है जिनसे पता चलेगा कि सोवियत संघ में क्षेत्रीय भाषाओं और सभ्यताओं का कितना महत्त्वपूर्ण स्थान था :

1. स्कूल, क्लब, थियेटर, प्रेस, सांस्कृतिक संस्थानों की स्थापना की जाए । उनमें स्थानीय भाषा का प्रयोग किया जाए और उसी भाषा के माध्यम से उनका विकास किया जाए ।
2. बड़े और विस्तृत स्तर पर व्यावसायिक स्कूल तथा ट्रेनिंग सेंटर खोले जाएं । वे स्थानीय भाषा के माध्यम से पढ़ाई कराएं और उसी भाषा के माध्यम से उनका विकास किया जाए ।
3. न्यायालय, प्रशासन कार्यालय, आर्थिक संस्थान तथा अन्य राजसत्ता केंद्र सभी स्थानों में खोले जाएं, उनकी सुव्यवस्था और विकास स्थानीय जनता करे और स्थानीय भाषा के माध्यम से करे ताकि व्यवस्था और जनता मनोवैज्ञानिक आधार पर एकता के सूत्र में बंधकर विकास की दिशा में अग्रसर हों ।
4. शिक्षा के कार्य के लिए विशेषकर और प्रशासन कार्य के लिए भी स्थानीय

आधार पर स्थानीय भाषा के माध्यम से कार्यकर्ताओं की टीम तैयार की जाएं जो जनता को समाजवाद और संघ की दिशा में आगे ले जा सके ।

5. प्रत्येक वर्ग, जाति तथा क्षेत्र को अपनी भाषा, संस्कृति एवं परंपरा के आधार पर उन्नति के पथ पर अग्रसर करके उसको अपना स्वत्व कायम रखते हुए सोवियत मुख्य धारा में प्रतिष्ठित करना ।

यह प्रोग्राम एक ऐसी व्यवस्था की परिकल्पना कर रहा था जैसी व्यवस्था सुर और संगीत के बीच होती है ।

सोवियत संघ के शिक्षा संस्थान, अनुसंधान प्रतिष्ठान और स्थानीय संस्थाएं इस भाषा-विकास के काम में एकजुट होकर लग गए । उन्होंने मिलकर संघ की केंद्रीय समिति के काम में हाथ बटाया और सभी जातियों और प्रदेशों ने अपनी भाषा, वैज्ञानिक और तकनीकी शब्दावली, व्याकरण और साहित्य के विकास कार्य में योगदान दिया । 1926 से ही लेनिनग्राड इंस्टीट्यूट आफ ईस्टर्न स्टडीज़ में जातीय भाषाएं पढ़ाई जाने लगी थीं । 1930 में पी०जी० स्मिडोविच इंस्टीट्यूट आफ द पीपल्स आफ द नार्थ की स्थापना की गई और उसके तत्त्वावधान में रिसर्च एसोसिएशन को क्षेत्रीय व जातीय भाषाओं को पढ़ाने और तत्संबंधी रिसर्च का काम सौंपा गया । भाषा और साहित्य के नव-निर्माण एवं पुनर्निर्माण के लिए सामाजिक और सांस्कृतिक संस्थानों की स्थापना स्थानीय और क्षेत्रीय स्तर पर की गई जैसे चुवाश रिसर्च इंस्टीट्यूट । इस इंस्टीट्यूट ने चुवाश भाषा का शब्दकोश तैयार किया तथा उसके नौ संस्करण छापे । इन संस्थानों के साथ-साथ संघीय संस्थान भी इस काम में लग गए । द इंस्टीट्यूट ऑफ ईस्टर्न स्टडीज़, द इंस्टीट्यूट ऑफ लैंग्वेज एंड थाट ऑफ द अकादमी ऑफ साइंसिज़, यू०एस०एस०आर०, द इंस्टीट्यूट ऑफ नेशनलिटीज ऑफ द यू०एस०एस०आर० सेंट्रल इग्ज़ेक्टिव कमिटी, बोर्ड ऑफ द सोवियत राइटर्ज़ और कितने ही स्थानीय संस्थान भाषा और साहित्य के नवनिर्माण, पुनर्निर्माण और विकास कार्य में जुट गए । इसी कारण 1917 से 1940-42 तक एक पीढ़ी के समय में ही सोवियत संघ का इतना भाषायी विकास हो पाया ।

भाषा-व्यवस्था और भाषा-विकास के साथ-साथ सोवियत संघ में जातीय संघटन और विकास भी होता गया । आम तौर पर जनता अपने स्वत्व को अपनी भाषा और सामाजिक परंपरा में ढूंढती है । वही स्वत्व उसकी पहचान होता है । ऐसा तभी तक होता है जब तक सारे समाज के अंदर उसे अपने आर्थिक और सामाजिक हित दिखाई नहीं देते । सर्वसामाजिक हित दीखते ही उनके जातीय या वर्ग संबंधी हितों का साधारणीकरण होने लगता है और वे बड़े वर्ग, जाति या समाज में अपना समावेश कर लेते हैं । उदाहरण के तौर पर ताजिकिस्तान में कितनी ही जातियां ऐसी हैं जो ताजीक वर्ग से परंपरागत रूप से तो भिन्न हैं किंतु आर्थिक और सामाजिक हितों को देखते हुए ताजीक समुदाय में मिल गई हैं फिर भी इस नववर्ग की भाषा परंपरागत भाषा ही है और वे शौक से अपनी परंपरागत भाषा पढ़ते हैं । अधिकतर तो दो भाषाएं पढ़ते हैं, अपनी और ताजीकी । कितनी ही जातियां ऐसी हैं जो वर्गभाषा को छोड़कर क्षेत्र या प्रदेश की भाषा को पढ़ती हैं और साथ में रूसी

भाषा पढ़ती हैं । केवल सामाजिक और आर्थिक कारणों से और अपने हितों को देखकर वे रूसी भाषा को पढ़ते हैं । यदि हम समष्टि योजना को एक तरफ रख लें और दूसरी ओर वैयक्तिक तथा वर्ग-स्वत्व को रख लें, तो भी प्रकृति तो अपनी प्रक्रियाओं को चालू रखती है । व्यक्ति जिधर विकास देखता है उधर ही अपना विकास-हित देखता है । इसी कारण रूसी अधिकतर सोवियत जनता की पहली या दूसरी भाषा है हालांकि वह अनिवार्य भाषा कहीं भी नहीं है ।

रूसी की दिशा में इस ऐच्छिक प्रगति के कारण हैं । मुख्य तो यही है कि रूसी को किसी जाति, प्रदेश या राज्य पर लादा नहीं गया । दूसरा यह कि स्थानीय भाषा के माध्यम से जैसे ही साक्षरता और शिक्षा का प्रसार हुआ जनता ने समझ लिया कि हित इसी में है कि मुख्य धारा में सम्मिलित हुआ जाए । और मुख्य धारा में सम्मिलित होने का माध्यम है बहुप्रतिष्ठ और लब्धप्रतिष्ठ भाषा को सीखना । साइंस टेक्नोलजी, कला, साहित्य आदि सभी क्षेत्रों में रूसी भाषा के माध्यम से अधिकतम उन्नति हुई है और उसकी उपलब्धि के लिए रूसी सीखना हितकर है । सोवियत संघ के केंद्रीय स्तर पर सभी क्षेत्रों, राज्यों और जातियों के लोगों ने रूसी का चयन उसकी अपनी उदारता, उपलब्धियों तथा राष्ट्रीय हितों को सामने रखकर ही किया है । सीखने में आसान, लिखने में आसान, अंतर्जातीय तथा अंतःप्रादेशिक स्तर पर संपर्क भाषा के रूप में सशक्त और समृद्ध और स्थानीय रूपांतरों से मुक्तप्राय, इस भाषा को सोवियत संघ के विभिन्न जातीय और क्षेत्रीय वर्गों ने मुख्य धारा में सम्मिलनार्थ अपने हितों को सामने रखकर अपनाया है । अन्यथा सभी 130 भाषाओं का वैधानिक स्थान और महत्त्व समान है । वैधानिक रूप से रूसी सोवियत संघ की राजभाषा भी नहीं है पर प्रत्येक नागरिक को इसे पढ़ने की सुविधा दी जाती है । ये सुविधाएं भी सभी भाषाओं के लिए समान रूप से उपलब्ध हैं । प्राकृतिक और स्वाभाविक प्रक्रियाओं के आधार पर ही लोग रूसी का चयन करते हैं । भाषा के ही आधार पर लोगों का अखिल सोवियत संघ में आना-जाना बढ़ गया और अपने-अपने हितों को देखकर लोग एक प्रदेश से दूसरे में अन्य जातियों के बीच बस गए हैं । भाषा और जातियों की अनेकता में एकता का सोवियत संघ उत्तम उदाहरण है और इस एकता का आधार है स्वाभाविक प्रक्रियां और योजनाबद्ध कार्यक्रम का मनोवैज्ञानिक और आर्थिक-सामाजिक संतुलन । सोवियत संघ में भाषा और राष्ट्र दोनों का सम्यक संघटन हो गया ।

एक प्रश्न : सोवियत संघ में इतनी हलचल क्यों हुई ? वहां का राष्ट्रीय संघटन हिल क्यों गया ? क्या भाषा संघटन अपना काम राष्ट्र-संघटन की दिशा में नहीं कर पाया ?

यह प्रश्न बहुत महत्त्वपूर्ण है, और इसी कारण सारे संसार की दृष्टि सोवियत संघ पर लगी थी, ताकि इतिहास के एक महान् साम्यवादी प्रयोग की सफलता या विफलता का निर्णय हो जाए और उस प्रयोग की वास्तविक उपादेयता का मूल्यांकन किया जा सके ।

हमारे विचार में सोवियत संघ की हलचल में भाषा संघटन की परीक्षा नहीं हो रही थी । हम पहले कह चुके हैं कि किसी भी ऐतिहासिक तथा राजनीतिक प्रयोग के अंदर तीन भूमिकाएं प्रमुख होती हैं : एक द्रष्टा और दर्शन, दूसरी स्रष्टा और सर्जन, तीसरी निर्माता और

निर्माण—पुनर्निर्माण और विकास ये भी निर्माण के ही अंग हैं । सोवियत संघ की दर्शन भूमिका के ऋषि थे कार्ल मार्क्स । उन्होंने इतिहास के परिप्रेक्ष्य में और अपने अर्थात् यूरोपियन संदर्भ में प्राकृतिक तथा सामाजिक संघर्ष के दर्शन किए और तदनुरूप इतिहास के स्वरूप की व्याख्या की । संघर्ष के इस ऐतिहासिक नैरंतर्य के संदर्भ में मानव के एक विशेष उज्ज्वल भविष्य की कल्पना भी की जा सकती थी : एक संघर्ष-मुक्त समाज की स्थापना जहां संघर्ष का आधार अर्थात् निजी धन न रहे । ऐसे समाज की स्थापना की रूपरेखा लेनिन और उनके साथियों ने बनाई । मार्क्स द्रष्टा थे, लेनिन स्रष्टा । लेनिन और उनके साथी जब अपना काम कर चुके तो आए निर्माता—लेनिन से ही प्रारंभ करके स्टालिन और उनके साथी, आज तक जो सत्ता में हैं वे भी । सोवियत हलचल वास्तव में निर्माताओं का संघर्ष था और संघर्ष का आधार था सत्ता न कि धन या प्रापर्टी । द्रष्टा और स्रष्टा ने भी शायद यह सोचा ही न हो कि निजी प्रापर्टी को समाप्त करने के बाद सत्ता ही प्रापर्टी बन जाएगी । सोवियत हलचल वास्तव में एक ऐसे प्रश्न की ओर संकेत करती है जो इतिहास के आदि से लेकर अंत तक रहेगा और सटीक हल चाहेगा । सोवियत संघ ने जो हल क्रांति के माध्यम से साम्यवादी व्यवस्था में ढूंढ़ा था वह पुराना पड़ गया इसी कारण सत्ता संतुलन बिगड़ गया और हलचल मच गई ।

मार्क्स दर्शन नया नहीं है । उसका आदि स्रोत तो वेद में है । मानव की सामाजिक समस्या है व्यक्ति/व्यष्टि और समष्टि का संतुलन । हल है 'संगच्छध्वम्' जो ऋग्वेद के अंतिम संघटन सूक्त में मिलता है । मार्क्स ने इस समस्या का केवल आर्थिक रूपांतर देखा और आर्थिक रूपांतर में भी संतुलन की संभावना को नहीं, संघर्ष को ही देखा । इतिहास में संतुलन अथवा संगच्छध्वम् के मूल मंत्र की सिद्धि कैसे की जाए इसके अलग-अलग तरीके स्रष्टाओं ने सुझाए और निर्माताओ ने उनको साकार करने की कोशिश की । ऐसे ही स्रष्टा तथा निर्माता लेनिन थे । ऐसे ही स्रष्टा स्वामी दयानन्द भी थे जिन्होंने निर्माण का मंत्र दिया : प्रत्येक को सामाजिक सर्वहितकारी नियम पालने में परतंत्र रहना चाहिए और प्रत्येक हितकारी नियम पालने में सब स्वतंत्र रहें । स्वतंत्रता और परतंत्रता के संतुलन अर्थात् स्वतंत्रता की सीमांत-रेखा और परतंत्रता की प्रारंभ रेखा ये दोनों हैं तो एक ही, पर वह सामाजिक, आर्थिक और राष्ट्रीय व्यवस्था में कहां खेंची जाए इसका निर्णय विधान करता है ।

इस व्यवस्था के दो प्रकार हैं : एक व्यष्टि प्रधान, दूसरा समष्टि प्रधान । पहला अमरीका, इंग्लैंड, भारत इत्यादि देशों में है और लोकतंत्र कहलाता है । दूसरा सोवियत संघ और चीन में है और सामूहिक साम्यवाद कहलाता है । इन दोनों व्यवस्थाओं में संतुलन बिगड़ता है तो कभी व्यष्टि और कभी समष्टि का पलड़ा भारी होने लगता है और ऐसे समय में विरोधी शक्ति जोर मारती है । सोवियत संघ में व्यष्टि की दिशा में जो संतुलन-परिवर्तन किया जा रहा था उसके विरुद्ध समष्टिवादियों की ओर से प्रतिक्रिया करने का प्रयास किया गया और उसके विफल होते ही व्यष्टिवाद फिर जोर मारने लगा । इस व्यष्टि और समष्टि के संघर्ष में संतुलन रेखा जहां निर्धारित होती है वहीं पर नई व्यवस्था का सत्ताकेंद्र टिक जाता है । पर इस पुनःस्थापना की दिशा

में भी भाषा की भूमिका तो ज्यों की त्यों रहेगी और जहां राष्ट्रीय व्यवस्था का आर्थिक-सामाजिक टिकाव व्यष्टि-समष्टि के संतुलन रूप में होगा वहीं रूसी और अन्य भाषाओं का संतुलन टिकाव भी हो जाएगा । किंतु यह भी हो सकता है कि व्यवस्था परिवर्तन के बावजूद रूसी भाषा की मान्यता पहले जैसी बनी रहे और यही भाषा नई व्यवस्था के प्रति भी अपना योगदान दे सके ।

सोवियत संघ में भाषा और राष्ट्र का संबंध पूर्व अथवा अपरवर्ती नहीं रहा, वह संघटन की दिशा में समवर्ती रहा । क्षेत्रीय और केंद्रीय भाषाओं का संबंध वहां पर सुर और संगीत का रहा है । पिछले दिनों सुरों की हलचल मच रही थी, सो भी इसलिए कि राग बदलने लगा था । राग भले ही बदल जाए, सुर और संगीत तो दोनों ही रहेंगे । भारत में भी हमें सुर और संगीत का संतुलित संबंध रखने के लिए राग का चुनाव करना पड़ेगा । साथ में यह भी सोचना पड़ेगा कि राष्ट्र-निर्माण की प्रक्रिया में क्षेत्रीय और केंद्रीय/संपर्क-भाषा तथा भाषा-संघटन और राष्ट्र-संघटन का संबंध पूर्ववर्ती हो, अपरवर्ती हो या समवर्ती हो । संवर्तन और संतुलन का क्रियात्मक रूप होगा संगति, संगमन और प्रगति ।

अंत में, सोवियत प्रयोग से सीखें तो क्या ?

1. देवनागरी लिपि का विकास ।
2. भारतीय लिपि का निर्माण ।
3. विविध भारतीय भाषाओं का विकास, प्रचार, प्रसार ।
4. विविध भाषाओं की वर्णमाला का सापेक्ष अध्ययन और आदान-प्रदान ।
5. विविध भाषाओं की शब्दावली व मुहावरों का अध्ययन और आदान-प्रदान ।
6. हिंदी व हिंदीतर भाषाओं का आदान-प्रदान और पारस्परिक सहयोग अनुवादादि ।
7. हिंदी तथा अन्य भाषाओं की सामाजिक स्थिति, उपलब्धि और वैधानिक मान्यता का आदर ।
8. हिंदी का ऐच्छिक अध्ययन करने के अवसर और स्वयंसेवा ।
9. प्रत्येक क्षेत्र/प्रदेश/राज्य/केंद्र में भारतीय भाषाओं का ऐच्छिक वैधानिक प्रयोग ।
10. राष्ट्र का भाषा के माध्यम से संघटन और पुनर्निर्माण/विकास ।

32
संवाद : समाज की पहचान

अंग्रेज के साथ हमारा दोस्ती-दुश्मनी का रिश्ता रहा है । यदि ऐसा न रहा होता तो उसकी भाषा, साहित्य और सभ्यता को अपनाकर उसे जाने पर मजबूर क्यों करते ? यदि ऐसा न होता तो अंग्रेज भी यहां राज करते-करते बसने से परहेज क्यों करते ? यदि ऐसा न होता तो अंग्रेजी को अपनाकर उसे 15 वर्ष के बाद विदा करने का संकल्प क्यों लेते ? और यदि संकल्प कर ही लिया था तो दो वर्ष बाद ही उसे रोकने का निर्णय क्यों लेते ? नेहरू जी तो कभी-कभी कवि की तरह बोलते थे : जब मैं हिंदुस्तान में होता हूं तो इंग्लिस्तान की याद आती है और जब इंग्लिस्तान में होता हूं तो हिंदुस्तान की याद आती है । हममें से कितने ही क्यों कहते : जब हम अंग्रेजी में लिखते हैं तो हिंदी में सोचते हैं और जब हिंदी में लिखते हैं तो अंग्रेजी में सोचते हैं ?

यदि अंग्रेजों से भी पूछें कि क्या बोलें, तो वे कहेंगे : संवदध्वम्—अच्छा बोलो, अपना बोलो, मिलकर बोलो । कब ? आज अभी । और मान लो हमारी भाषाएं विकसित न हों तो ? उत्तर : होती रहेंगी । जो हमने किया वही तुम करो, वैसे ही, आज और अभी ।

हममें से बहुत कम यह जानते हैं कि कभी इंग्लैंड में भी विदेशियों का राज था और विदेशी भाषा ही वहां की राजभाषा थी । वहां की राजभाषा उस समय अंग्रेजी नहीं, फ्रेंच थी, और अंग्रेजी-भाषी लोगों ने अपनी पार्लमेंट में विदेशी भाषा को अंग्रेजों के प्रति विदेशियों का षड्यंत्र कहा था । यदि विदेशी भाषा (फ्रेंच) इंग्लैंड की जनता के प्रति षड्यंत्र थी तो अंग्रेजी का भारत पर लादा जाना षड्यंत्र क्यों नहीं था ? इसी षड्यंत्र की कहानी हमारे लिए बड़ी रोचक और प्रेरणादायक है । कहानी का आशय मिलेगा : चालू बनो, टालू मत बनो । हम 50 वर्ष से टालू बने हुए हैं, चलते ही नहीं । चलते हैं तो पीछे । 1967 का विधान-संशोधन हमारी वक्रचाल का ही द्योतक है । इंग्लैंड दो बार विदेशी राज में दबा और दोनों बार विदेशी राजभाषा की घुटन में जिया, एक बार रोमन राज में (43 से 410 तक) और दूसरी बार नार्मन राज में (1066 के पश्चात्) । पहली बार राजभाषा थी लैटिन और दूसरी बार फ्रेंच । लैटिन 410 में रोमनों के साथ लौट गई और फ्रेंच 1362 में उखड़ गई । दोनों बार विदेशी भाषा के स्थान पर देश की भाषा आ गई, जिस अवस्था में भी वह थी उसी में ।

सन् 43 में रोमनों ने ब्रिटेन को जीतकर वहां अपना प्रभुत्व जमा लिया । उस समय वहां की केल्टिक भाषा को उखाड़कर लैटिन भाषा लागू कर दी गई क्योंकि राजवर्ग की भाषा तो लैटिन ही थी । रोमन सभ्यता उस समय इंग्लैंड की अपेक्षा विकास को प्राप्त हो चुकी थी और

उनकी भाषा और साहित्य भी विकास को प्राप्त हो चुके थे । रोमन सभ्यता और जीवन-शैली के अनुरूप नगर, छावनी इत्यादि बने तथा उनको मिलाने के लिए बड़े-बड़े मार्ग भी बनाए गए । रोमन भवन, स्नानागार, मंदिर, नाट्यशालाएं इत्यादि बनाए गए । रोमन फैशन के कपड़े, आभूषण, बर्तन, सजावट का सामान इत्यादि प्रयोग में आने लगे । इंग्लैंड का रोमनकरण वैसे ही हो गया जैसे भारत का अंग्रेजीकरण ।

इंग्लैंड वालों को मातृभूमि के प्रति यह चोलाबदल नाटक नहीं भाया । उन्होंने 18 वर्ष बाद ही विद्रोह कर दिया । यह विद्रोह बोडीसिया नाम की एक महिला के नेतृत्व में हुआ जिसका पति एक बड़ा शासक सरदार था । वह रोमन युद्ध में मारा गया । इस विद्रोह में दोनों ओर से करीब 70,000 लोग मारे गए थे । विद्रोह से रोमनों को एक अनुभूति हुई : यदि किसी देश की भूमि पर बलपूर्वक कब्जा कर लिया जाए तो मानो उसके शरीर पर अधिकार जमा लिया गया । किंतु क्या शरीर मात्र पर अधिकार करने से किसी देश या जाति के मन और आत्मा पर भी अधिकार किया जा सकता है ? नहीं । यदि देश की धरती को दबा लेने से ही ब्रिटेन रोमन हो जाता तो विद्रोह क्यों होता ? इसलिए रोमन गवर्नर ने एक शिष्ट-रूप लेकिन कपटपूर्ण तरकीब सोची : क्यों न ब्रिटेन के लोगों को रोमन भाषा के सौष्ठव, रोमन साहित्य के लालित्य तथा रोमन सभ्यता के विलास का चस्का डालकर उन्हें सुखभोग और मानसिक कोमलता का शिकार बनाया जाए ? वे स्वयं ही अकर्मण्य बन जाएंगे और अपनी शिक्षा, सुरक्षा इत्यादि प्रत्येक समस्या के लिए रोमनों पर निर्भर करने लगेंगे । ऐसा ही किया गया । ब्रिटेन के उच्च वर्ग को रोमन सभ्यता और विलास का चस्का पड़ गया । ब्रिटेन का रोमनकरण हो गया । वे हर बात के लिए रोमनों का मुंह ताकने लगे । कई सौ वर्षों तक ऐसा ही होता रहा । फिर पांचवीं शती के प्रारंभ में जर्मनों की ओर से रोम पर आक्रमण होने लगे । रोमन शासक और सेना सब रोम की रक्षा के लिए वापस चले गए । ब्रिटेन के लोग यह नहीं चाहते थे, इसलिए उन्होंने रोमनों से रुकने की प्रार्थना की । पर रोमन तो रुक नहीं सकते थे, चले गए । इसके पश्चात् ब्रिटेन पर पिक्टस और स्काट्स ने आक्रमण करना प्रारंभ कर दिया । भोग के कारण अपने आपसे थके ब्रिटन अपनी रक्षा स्वयं नहीं कर पाए और रोम से सुरक्षा की प्रार्थना की । पर रोम को तो अपनी पड़ी थी । ब्रिटेन और उनकी सभ्यता आक्रमणकारियों के नीचे दब गए । कुछ समय के बाद जर्मन ज्यूट, एंग्ल और सैक्सन लोग इंग्लैंड पहुंच गए और ब्रिटेन अपने ही निवासियों के हाथ से निकल गया । एंग्लों के निवासस्थान होने के कारण ब्रिटेन का नाम इंग्लैंड पड़ गया । रोमन प्रभाव भी समाप्त हो गया : आक्रमणकारियों ने रोमन सभ्यताग्रस्त ब्रिटेनों को पछाड़ दिया ।

हम पहले कह चुके हैं कि मकाले के शिक्षा प्रस्ताव और अंग्रेजी के शिक्षा भाषा बनने के 18 वर्ष बाद 1853 में मकाले के संबंधी चार्ल्स ट्रेवेल्यन ने ईस्ट इंडिया कंपनी की विशेष समिति के सामने अपनी सम्मति प्रकट करते समय ब्रिटेन के रोमनकरण की चर्चा की थी और यह कहा था कि जैसे रोमनों ने ब्रिटेन के लोगों को रोमन भाषा, साहित्य और सभ्यता का चस्का डाला था वैसे ही कंपनी सरकार को भी भारतीयों को अंग्रेजी भाषा और साहित्य एवं विलास का

अनुभव करा देना चाहिए । रोमन जाने लगे तो ब्रिटनों ने उनको रोकना चाहा था । इसी प्रकार यदि अंग्रेजों को कभी भारत से आना भी पड़ेगा तो अंग्रेजी रंग में रंगे भारतीय स्वयं उन्हें रोकने का प्रयास करेंगे । भाषा और साहित्य के माध्यम से मन और संस्कारों पर विजय पाई जाती है और मन और संस्कारों के माध्यम से आत्मा पर । भारत की आत्मा के परिवर्तन का युद्ध अंग्रेजी भाषा और साहित्य तथा पाश्चात्य सभ्यता के भोगप्रसाधन लड़ेंगे । यह योजना ब्रिटिश इतिहास के रोमन अध्याय के आधार पर बनी थी ।

ब्रिटेन की दूसरी पराजय 1066 में नारमंडी के विलियम के साथ युद्ध में हेस्टिंग्ज़ नामक पहाड़ी स्थान पर हुई थी । विलियम ने ब्रिटेन के शाह हैरल्ड को हराकर ब्रिटेन पर शासन जमा लिया । नार्मन राज्य की स्थापना के साथ ही भाषा राजभाषा बन गई । यह भाषा थी फ्रेंच । 1066 से 1362 तक इंग्लैंड की राजभाषा फ्रेंच रही, करीब तीन सौ वर्ष ।

जिस प्रकार अंग्रेजों के प्रभुसत्ता में आने के बाद यहां के शासन-प्रशासन का अंग्रेजीकरण हो गया था इसी प्रकार इंग्लैंड के शासन-प्रशासन का भी फ्रांसीकरण हो गया । अंग्रेज शासक या तो लड़ाई में मारे गए थे, या बाद में समाप्त कर दिए गए और उनके स्थान पर नार्मन अफसर, सरदार आदि लगा दिए गए । छठी शताब्दी के पश्चात् इंग्लैंड में ईसाई मत फैल चुका था और वहां रोम के अधीन चर्च की स्थापना भी हो गई थी । नार्मन काल में चर्च के अधिकारी भी सब नार्मन ही लगा दिए गए । ये सभी नार्मन केवल फ्रेंच भाषा ही जानते थे । वे अंग्रेजी नहीं जानते थे और न ही उन्हें अंग्रेजी सीखने की आवश्यकता थी, उन्होंने तो इंग्लैंड में ही एक विशिष्ट फ्रांस बना लिया था । फ्रेंच भाषा, फ्रेंच फैशन, फ्रेंच शिष्टाचार, फ्रेंच सभ्यता, केवल इन्हीं का बोलबाला था । इंग्लैंड में रहने वाले इन नवाबों के सामने वहीं के निवासी होते हुए खानसामा, बैरे और फर्राश बन गए । नवाब शाह इन कुलियों को जानबूझकर दूर रखते और इनके प्रति घृणास्पद बरताव करते । अफसर की नजर में तो ये नौकर अल्हड़-गंवार ही थे ।

इस मालिक-नौकर संबंध ने अंग्रेजी भाषा को भी कई नई बख्शीश दी थी । हम विलन शब्द को जानते ही हैं । फिल्म की दुनिया में हीरो और विलन को कौन नहीं जानता ? हीरो ग्रेट और विलन बदमाश—वैसे आज के कुछ अदाकारों की कला और चातुरी के कारण विलन की तरक्की हो गई है और खलनायक की सामाजिक मान्यता बढ़ गई है, पर हम तो आठ-नौ सौ वर्ष पहले की बात कर रहे हैं । उस समय विलन शब्द का अर्थ था साधारण गांव वाला (विलेज का आदमी) । साधारण गांव वाला शहरी की अपेक्षा गरीब, अफसर के सामने चपरासी और मालिक के सामने नौकर । नार्मन अफसर के घर विलन देहाती खानसामा । यदि मालिक की कोई चीज भूल से इधर-उधर हो जाए तो संदेह नौकर पर । शहरी साहब भूले और देहाती नौकर पिटे । गलती मालिक की, सजा विलन को । विलन शब्द के साथ आर्थिक-सामाजिक स्थिति के अनुरूप नये अर्थ जुड़ गए । चोर, मक्कार, बदमाश, जिसकी पिटाई देखकर दर्शकों को मजा आए, उसके नाम की हमदर्दी भी गई । शुक्र है फिल्म का, उसने विलन को नायक तो बना दिया, खलनायक ही सही । पालिटिक्स की बात करना व्यर्थ है, अच्छा भी नहीं ।

नार्मन और अंग्रेजों के बीच रंगभेद नहीं था । इसलिए अंग्रेजों, उच्च वर्ग और नार्मनों के बीच रिश्ते-नाते भी होने लगे थे । यही अंग्रेज उच्च वर्ग अन्यथा भी आहिस्ता-आहिस्ता शासक वर्ग के निकट आने लगा था । ये ही अंग्रेजी उच्च वर्ग के लोग शासकों के सान्निध्य में फ्रेंच भाषा भी सीखने लगे एवं नये सामाजिक आचार-व्यवहार के माध्यम से एक नया भद्रलोक अस्तित्व में आने लगा । ऐसे ही भारत में भी हुआ था, अंतर यह था कि यहां रंगभेद था और वहां नहीं था । पर भाषा की विशिष्टता दोनों जगह एक-सी थी । भाषा एक प्रतीक बन गई, शासन-प्रशासन और समाज संबंधी वर्ग-विशेष का । बड़े आदमी फ्रेंच बोलते और साधारण आदमी अंग्रेजी बोलते । फ्रेंच की शान, सामाजिक आन-बान । अंग्रेजी गंवारू भाषा बनके रह गई, जैसे भारत में भारतीय भाषाएं अंग्रेजी की अपेक्षा गंवारू बन गईं और अभी भी···

भारत से सोने का निर्गमन हमने देखा है और आज भी देख रहे हैं । कुछ अर्थशास्त्रियों और राजनायकों को छोड़कर औरों को, विशेषकर जनता को, यह किसी तरह से भी नहीं भाता । इंग्लैंड से भी धन इसी तरह निकालकर नार्मंडी भेजा गया और कितने ही नार्मनों को ऊंचे-ऊंचे पद उसी तरह दिए गए जैसे भारत में अंग्रेजों को दिए गए थे । ये नार्मन लोग जीते और कमाते तो इंग्लैंड में, पर गीत गाते नार्मंडी के । हेनरी तृतीय के समय में इतने नार्मन लोग इंग्लैंड में उच्च पदों पर बिठा दिए गए कि मैथ्यु पैरिस नाम के एक इतिहासकार ने अपनी पुस्तक 'क्रोनिका मैज्योरा' में लिखा कि बादशाह ने अपने रिश्तेदारों को जमीन-जायदाद और धन से इतना लाद दिया है कि वे उससे अधिक बोझ उठा नहीं सकेंगे, हिले भी तो कुछ न कुछ खो देने की आशंका है । एक बार बादशाह ने घोड़ों को सोने से लाद लिया और जब ये जानवर बोझ से टूटने लगे तो और घोड़ों को इस लूटविलास में आमंत्रित करना पड़ा । नार्मनों ने इंग्लैंड को वैसे ही एक उपनिवेश समझ लिया जैसे अंग्रेजों ने भारत को समझ रखा था ।

फ्रेंच भाषा और साहित्य की शान सारे इंग्लैंड में जम गई । जो लोग फ्रेंच नहीं जानते थे वे गंवार समझे जाते थे । यदि वे अच्छे स्थानापन्न होते तो उनको अपमान सहना पड़ता । भारत में तो स्वतंत्रता के इतने वर्ष बाद भी जो मुख्यमंत्री अंग्रेजी नहीं जानते उनको भी अंग्रेजीदानों का प्रहसन सहना पड़ता है । शाह विलियम की विजय के समय एक बहुत बड़े और प्रतिभाशाली बिशप वुल्फस्टन इंग्लैंड में वुर्स्टर चर्च में पदासीन थे । जब फ्रेंच पादरी सब चर्चों में आ गए तो भी इनको प्रतिभा के कारण हटाया नहीं गया । किंतु यह केवल अंग्रेजी जानते थे, फ्रेंच नहीं जानते थे । एक नार्मन पादरी लैनफ्रेंक, जो फ्रेंच जानते थे और शाह के अत्यंत निकट थे, इनसे कटते थे । लैनफ्रेंक ने केवल भाषा-ज्ञान के आधार पर वुल्फस्टन के बारे में कहा था कि यह भोला भंडारी फ्रेंच तो जानता नहीं, अनपढ़ है, यह बादशाह को राजकार्य में क्या सलाह देगा ? अलबर्ट बां महोदय ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'अंग्रेजी भाषा का इतिहास' में यह सब चर्चा विस्तार से की है । एक तत्कालीन इतिहासकार रॉबर्ट हाल्काफ के हवाले से वे लिखते हैं कि उस समय अंग्रेज नाम भी एक प्रकार की गाली बन गया था । यह स्मरणीय है कि अंग्रेजी राज में भारत में भी हिंदुस्तानी, काला, कुली इत्यादि शब्द पर्याय बन गए थे । आज भी इंग्लैंड में भारतीय

दीखने वाले आदमी को पाकी, निगर आदि कह दिया जाता है । यह भी साथ में स्मरणीय है कि प्रतिक्रिया रूप में भारत में भी गोरों को बंदर, कोढ़ी, लालमुंहा इत्यादि कह दिया जाता था । ऐसा अशोभनीय व्यवहार किसी भी समाज-समुदाय में उस समय हुआ करता है जब दो समाज आपस में अनेक आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक अथवा जातीय कारणों से ग्रस्त मानसिक प्रतिरोध का शिकार बन जाते हैं । हाल्काफ का कहना है कि नार्मन बादशाह ने यहां तक कोशिश की थी कि अंग्रेजी भाषा को किसी तरह समाप्त ही कर दिया जाए ताकि अंग्रेजी-फ्रेंच का झगड़ा ही खत्म हो जाए और सारे लोग फ्रेंच ही बोलने लगें । हम पहले देख चुके हैं कि भारत में अंग्रेजी की छत्रछाया में भारतीय भाषाओं को जीना नसीब नहीं हुआ था । वास्तव में सरकार की अंग्रेजीपक्षीय भाषा-नीति भारतीय भाषाओं की जड़ों का रस चूसती ही रही और आज भी उन्हें अपने ही घर में अंग्रेजी की अपेक्षा यथोचित स्थान नहीं मिल पा रहा है ।

अंग्रेजी-विरोधी और फ्रेंचपक्षीय राजनीति कुछ समय तक खूब चली, करीब 150 वर्ष तक । इंग्लैंड के संपन्न परिवार फ्रेंच सीखने लगे और अपने बच्चों को फ्रेंच पढ़ाने के लिए फ्रेंच ट्यूटर रखने लगे । भारत में भी कुछ समय तक ऐसा ही हुआ था । कहा जाता है कि बचपन में नेहरू जी को पढ़ाने के लिए अंग्रेज ट्यूटर रखे गए थे । किंतु यह विदेशी साम्राज्य सदा के लिए तो चलता नहीं । यह इतिहास का व्यंग्य है मानव की ऐहिक वासना के प्रति कि वही नेहरूजी जो अंग्रेज गुरुओं से भारत और इंग्लैंड में पढ़े, मानो गुरुदक्षिणा रूप में अंग्रेजों, उनके राज और उनकी भाषा को चुनौती दे गए । इंग्लैंड में फ्रेंचपरस्ती के साथ-साथ अंग्रेजी बेबसी डेढ़ सौ वर्ष तो चली, तत्पश्चात देश की जनता और उनकी भाषा ने अपनी आंतरिक और वास्तविक शक्ति का आह्वान किया और फ्रेंच को चुनौती दे डाली ।

सन 1200 से 1250 तक का समय ब्रिटिश भाषा इतिहास में एक युगमोड़ के रूप में हमारे सामने आता है । डेढ़-दो सौ वर्ष के बाद भी फ्रेंच देश की जनभाषा नहीं बन पाई थी, वर्गभाषा अवश्य बन गई थी । जो लोग फ्रेंच पढ़ते-लिखते और बोलते थे उनके उच्चारण और लेखशैली से साफ पता चलता था कि ये लोग सोचते अंग्रेजी में हैं और लिखते-बोलते फ्रेंच में हैं । वे वैसी ही छोटी-छोटी स्पेलिंग, ग्रामर तथा एक्सेंट (स्वर का उदात्त या अनुदात्त रूप) की गलतियां करते थे जैसी साधारण अंग्रेजी सेवी हिंदुस्तानी करते हैं । दफ्तर के क्लर्क, आवेदन लेखक इत्यादि वैसी ही फ्रेंच लिखते जैसी बाबू मार्का अंग्रेजी हमारे आदमी लिखते थे और लिखते हैं । इसी अंग्रेजी मार्का फ्रेंच का वैसे ही उपहास उड़ाया जाता जैसा मार्क ट्वेन ने हिंदुस्तानी अंग्रेजी का उड़ाया था । अंग्रेज जनता, अंग्रेजी भाषा और अंग्रेजी फ्रेंच की यह दुर्गति और आगे चलने वाली नहीं थी, सुचारु रूप से तो नहीं ।

अंग्रेजी-फ्रेंच के अवमान और अंग्रेजी भाषा और अंग्रेज जाति के राजनीतिक पुनरुत्थान के कारण थे :

1. अंग्रेज और नार्मन जातियों का संघटन
2. नार्मनों का इंग्लैंड में स्थायी निवास
3. अंग्रेजी भाषा की राजोचित प्रतिष्ठा ।

ये तीनों कारण भारत में नहीं घट सकते थे । अंग्रेज और नार्मनों में रंगभेद नहीं था । जीवन के प्रति आधारभूत और वास्तविक दृष्टिकोण में भी कोई विशेष अंतर नहीं था । दोनों में कोई धार्मिक या सांप्रदायिक अंतर भी नहीं था क्योंकि दोनों जातियां/वर्ग ईसाई थे । दोनों जातियों में आपस में विवाह होने लगे थे । साधारणतया नार्मन लोग अंग्रेज स्त्रियों से विवाह करते, नार्मन भले ही फ्रेंच बोलते पर स्त्रियां अंग्रेजी ही बोलती थीं । पारिवारिक सुख की एक ही कुंजी है : पतिदेव पत्नी की भाषा बोले । पौरुष के फेर में यदि आप न बोलें तो पौरुष के बदले स्वाभिमान को विदा कीजिए । रिस्क और चुनाव दोनों आपके । खैर, फ्रेंच-भाषियों का सौजन्य, लालित्य और ललिताभक्ति जगद्विख्यात है । इंग्लैंड के पौरुष को तो वे पछाड़ गए थे पर देवियों से मात खा गए और सत्तावेश की जगह सुख का अनुभव करते-करते अंग्रेजी बोलने लगे । अब तो अंग्रेजी राजनायकों की भाषा बनने लगी । भारत में ऐसा नहीं हुआ, हो भी नहीं सकता था । अंग्रेज यहां बसने के लिए थोड़े ही आए थे । और जो कुछ वर्षों के लिए बसने आते थे वे पत्नी साथ लाते थे । सन् 1200 के आस-पास अंग्रेज और नार्मन इकट्ठे रहते-रहते ऐसे मिल गए थे कि यह पता नहीं चल पाता था कि कौन अंग्रेज है और कौन नार्मन ।

घर घरवाली का, यह कौन नहीं जानता ? जिन नार्मनों ने इंग्लैंड में शादी कर ली थी वे वहीं बस गए थे । उनके लिए एक ऐतिहासिक घटना ऐसी घटी कि उन्हें यह निर्णय करना पड़ा कि वे अपने आपको क्या मानते हैं—नार्मन या अंग्रेज । 1204 में नार्मंडी पर फ्रांस के बादशाह ने कब्जा कर लिया और नार्मन वंशी इंग्लैंड के बादशाह जॉन से कहा कि हमारी प्रभुसत्ता को मानो । जॉन ने इनकार कर दिया तो फ्रांस के बादशाह ने उसकी नार्मंडी स्थित सारी संपत्ति, जमीन-जायदाद को जब्त कर लिया । उस समय जो नार्मन इंग्लैंड में रहते थे वे दोनों जगह अपने पैर रखते थे । 1244 में फ्रांस के बादशाह ने उनके सामने यह प्रस्ताव रखा कि नार्मंडी और इंग्लैंड में से एक को चुन लें, क्योंकि वे दोनों देशों के नागरिक नहीं रह पाएंगे । जिन नार्मनों ने इंग्लैंड में शादियां कर रखी थीं या वहीं पर जिनका घर-जायदाद आदि बन गए थे वे इंग्लैंड में ही रहे और उन्होंने नार्मंडी को छोड़ दिया । इंग्लैंड में स्थायी तौर पर बसने के कारण वे वैधानिक और वास्तविक रूप से अंग्रेजी जनसमुदाय के सदस्य बन गए । घरवाली का घर, उसी का घरवाला और उसी की भाषा । अंग्रेजी का मान बढ़ने लगा ।

देश के वासी एक तो उनकी भाषा एक क्यों नहीं ? और भाषा यदि एक हो तो विदेशी क्यों ? यह प्रश्न एक प्रबल प्रश्न बन गया था । देश-प्रेम और भाषा-भक्ति ने जोर मारना प्रारंभ किया । 1234 में चर्च के उच्चाधिकारी बादशाह से मिले और उनके फ्रेंच-भाषी सामंतों के विरुद्ध और राज के हित में अपना रोष प्रकट किया । ये सामंत दो थे : पीटर जो विंचेस्टर के बिशप थे और दूसरे थे पीटर द रीवो । चर्च के अधिकारियों ने विनम्रतापूर्वक किंतु पूर्ण आत्मविश्वास के साथ निवेदन किया कि ये दोनों सामंत अपने आपको सारी राजशक्ति का मालिक समझते हैं और सारे अंग्रेज अधिकारियों को राजकार्य से निकाल चुके हैं । ऐसा क्यों ? क्या इंग्लैंड के लोग बादशाह के विश्वासपात्र नहीं हैं ? क्या राज और बादशाह पर देश के लोगों का कोई

अधिकार नहीं है या उनके प्रति कोई उत्तरदायित्व नहीं है ? ये लोग बादशाह और देश के निवासियों के बीच एक ऐसी खाई खोद डालेंगे जो दोनों के लिए घातक सिद्ध हो सकती है। उन्होंने बादशाह से प्रार्थना की कि इन सामंतों के इशारों पर न चलें। एक और चर्च अधिकारी बिशप ग्रासटेस्ट ने 1252 में और भी सबल शब्दों में बादशाह को चेतावनी दी कि ये विदेशी केवल विदेशी ही नहीं हैं, वे इंग्लैंड के घोर विरोधी शत्रु हैं। वे देश को लूट रहे हैं और देश के निवासियों को जानते तक नहीं। न ही वे इस देश की भाषा को समझते हैं।

एक समय था जब ब्रिटेन में असभ्यता का नाम था अंग्रेजी और सभ्यता का परिधान था फ्रेंच। अब फ्रेंच विदेशियों के गले का हार नहीं बल्कि तौक़ बनने लगी। इंग्लैंड अंग्रेजों का, अंग्रेजी उनकी, यह फ्रेंच कौन, कहां से और क्यों ? राबर्ट ऑफ ग्लॉस्टर ने 1300 में सामयिक विषयों की चर्चा करते हुए इंग्लैंड के नार्मंडीग्रस्त होने की निंदा की और नार्मन-विजय को ऐतिहासिक दुर्घटना बतलाते हुए कहा : "सारे संसार में कोई देश ऐसा नहीं जिसकी अपनी (देश में जन्मी) भाषा न हो, इंग्लैंड को छोड़कर।" 'कर्सर मुंडाई' नाम की पुस्तक के प्राक्कथन में लिखा है कि क्या फ्रांस में अंग्रेजी बोली या समझी जाती है ? फिर इंग्लैंड में फ्रेंच क्यों ? यदि मैं अपने देश की भाषा में लिखता हूं तो कौनसा गुनाह करता हूं ? मैं सबके लिए लिखता हूं और वे सब मेरी भाषा को समझते हैं। एक और अंग्रेजी लेखक ने लिखा कि इंग्लैंड में जन्मे और यहीं रहने वाले अंग्रेजी को समझते हैं। वे न फ्रेंच समझते हैं न लैटिन। लिखना या बोलना केवल अंग्रेजी में ही हो सकता है और होना चाहिए। विलियम आफ नेसिंग्टन ने 1325 में 'मिरर ऑफ लाइफ' नाम की पुस्तक में लिखा : न लैटिन लिखूंगा न कोई और, केवल अंग्रेजी लिखूंगा। हम इंग्लैंड में जन्मे हैं, यहीं पले हैं, यहीं रहते हैं, तो फ्रेंच या लैटिन क्यों ? पढ़े-लिखे, छोटे-बड़े, सब अंग्रेजी समझते हैं।

इतनी चेतना के जागृत होने के बाद तो अंग्रेजी अपने स्थान की ओर बढ़ने लगी। जब 1327 में शाह एडवर्ड द्वितीय की ओर से लंदन शहर को कुछ प्रशासनिक अधिकार दिए गए तो मेयर, म्युनिसिपल सदस्य और नागरिकों के सामने नगर-भवन में एक प्रमाणपत्र पढ़कर सुनाया गया। प्रमाणपत्र अंग्रेजी में था। 1337 में शाह एडवर्ड तृतीय ने संसद का एक अधिवेशन बुलाया ताकि उसको अपने फ्रांस के राज्याधिकार के विषय में परामर्श मिले। संसद् का संबोधन बादशाह की ओर से एक वकील ने किया। वकील महोदय लैटिन, फ्रेंच और अंग्रेजी तीनों भाषाएं जानते थे; फिर भी उन्होंने अपना वक्तव्य अंग्रेजी में दिया। कारण : यह कि वक्तव्य को सब भली भांति समझ सकें। जो कुछ हम कहना चाहते हैं या करवाना चाहते हैं उसे हम उसी भाषा में भली भांति जान सकते हैं जो हमने बचपन से ही सीखी है, किसी और में नहीं।

1356 में लंदन के मेयर की ओर से यह आदेश दे दिया गया कि लंदन और मिडल सेक्स के न्यायालयों की कार्यवाही अंग्रेजी में संपन्न की जाए।

ब्रिटेन की जनता के प्रति विदेशी राजभाषा के रूप में जो षड्यंत्र रचा गया था और उसके माध्यम से जो अन्याय उसके साथ तीन सौ वर्ष से किया जा रहा था उसका वैधानिक निराकरण

1362 में हुआ। ब्रिटिश संसद ने अक्तूबर में एक प्रस्ताव पास किया जिसका शीर्षक था 'स्टेच्यूट आफ प्लीडिंग' जो कि 'स्टेच्यूट्स आफ द रयल्म', I, पृ० 375-76 पर लिखा गया है। प्रस्ताव इस प्रकार है :

> सरकार के सामने बार-बार चर्च-अधिकारियों, सामंतों, राजाधिकारियों और जन-साधारण के द्वारा सप्रमाण निवेदन किया गया है कि इस देश के साथ एक षड्यंत्र खेला गया है।
>
> क्योंकि देश के कायदे-कानून-नियमादि जनसाधारण को मालूम नहीं हैं,
>
> क्योंकि उनके आवेदन, प्रतिवेदन, परीक्षण, निर्णयादि फ्रेंच भाषा में किए जाते हैं और जनता उससे अनभिज्ञ है,
>
> और जो लोग शाही या दूसरी अदालतों में आवेदन, प्रतिवेदन करते हैं, उन्हें विदेशी भाषा के कारण यह पता नहीं चलता कि सरकारी अफसर या वकील उनके पक्ष या विपक्ष में क्या कह रहे हैं,
>
> क्योंकि यह सही है कि देश की जनता देश के कायदे-कानून को देश की प्रचलित भाषा में सुचारु रूप से समझ सकती है,
>
> और प्रत्येक नागरिक नियमों का अतिक्रमण किये बिना अपनी स्वतंत्रता, और संपत्ति की सुरक्षा कर सकता है एवं जिन-जिन अन्य देश-प्रदेशों में राजा या सामंत या राज्याधिकारी गए हैं वहां-वहां प्रत्येक नागरिक को पूर्ण अधिकार और सुव्यवस्था उपलब्ध है,
>
> क्योंकि उनके कायदे-कानून उनकी अपनी भाषा में उपलब्ध हैं और उनका अनुपालन उनकी अपनी भाषा के माध्यम से होता है,
>
> अतः
>
> अपनी प्रजा की सुव्यवस्था और सुख-शांति के लिए और उपर्युक्त कारण से जो हानियां और अन्याय उनके साथ होते रहे हैं या हो सकते हैं उनके निराकरण के लिए राज के द्वारा यह आज्ञा, अनुज्ञा और आदेश दिया जाता है कि देश की किसी भी अदालत में किसी भी जज के सामने, किसी और (म्यूनिसिपल) अदालत में किसी मिनिस्टर या अधिकारी के सामने, कहीं भी, जो मुकदमे पेश किए जाते हैं उन सबका आवेदन, प्रमाण, उत्तर-प्रत्युत्तर, परीक्षण और निर्णय अंग्रेजी भाषा में किया जाए और उनका रिकार्ड लैटिन में रखा जाए।

यह प्रस्ताव फ्रेंच भाषा में ही पास किया गया था क्योंकि फ्रेंच ही राजभाषा थी उस

समय । इसका रिकार्ड लैटिन में रखा गया क्योंकि लैटिन परीक्षित, सम्माननीय और पवित्र भाषा मानी जाती थी । भारत से तुलना करें तो लैटिन संस्कृत के समान धर्म और धर्मशास्त्र की भाषा थी । हम यह कह सकते हैं कि देश भाषा का यह वैधानिक सम्मान ब्रिटेन की संसद् के मतानुसार वहां के धर्मशास्त्र का अंग बन गया ।

मध्यकालीन देशों और राज्यों की भाषा-स्थिति यह रही है कि घर की भाषा एक अर्थात् मातृभाषा, सरकार की भाषा सरकार के रंग के अनुसार, उदाहरणार्थ ब्रिटेन में फ्रेंच, और चर्च की भाषा तीसरी, उदाहरणार्थ ब्रिटेन एवं दूसरे यूरापीय देशों में लैटिन । यूरोप के लोग जैसे-जैसे बाहर गए और वहां अपने उपनिवेश स्थापित किए वहां-वहां घर की भाषा मातृभाषा—जैसे भारत में हिंदी, अथवा और कोई भी भारतीय भाषा, सरकारी भाषा अंग्रेजी, और धार्मिक भाषा संस्कृत इत्यादि । जैसे-जैसे मानव परिवार आधुनिकता की ओर चला, ये तीनों भाषाएं भी एक ही ओर चलीं । जिस-जिस देश या समाज में ये तीनों भाषाएं एक ही हैं वहीं-वहीं देश का समाज आधुनिक है, जहां-जहां ये तीन या दो भी हैं वहां वह अभी भी मध्ययुगीन है । भारत अभी मध्ययुगीन देश है क्योंकि स्वतंत्र होते हुए भी यहां की जनता यह नहीं जानती कि सरकार क्या कर रही है । कारण ? सरकार की भाषा अंग्रेजी, जनता की भाषा भारती । यहां न जनता सरकार को समझती है, न सरकार जनता को । दोनों किसी न किसी तरह अपना-अपना काम चला रहे हैं ।

ब्रिटेन 1362 में आधुनिकता की ओर चला क्योंकि वहां की देसी भाषा सरकारी बन गई । क्या अंग्रेजी उस समय विकसित भाषा थी ? क्या राजभाषा बनने के लिए अंग्रेजी ने कोई तैयारी की थी ? इन प्रश्नों का उत्तर तो अगले चार सौ वर्ष के इतिहास में मिलेगा ।

33
राजभाषा विकास : समस्या और समाधान

जीवन एक प्रवाह है, नित्य, निरंतर, नूतन—अंदर झांकें या बाहर देखें यह चलता रहता है, अनादि, अनंत ।

भाषा जीवन की चेतना का शब्दांतर है, चेतना चेतन का गुण है, चेतना की अभिव्यक्ति चेतन का कर्म है । चेतना की अनुभूति है सुख, दुख, इच्छा, द्वेष, ज्ञान, प्रयत्न जो सब चेतन के गुण हैं । इनकी अनुभूति और अभिव्यक्ति उसका लक्ष्य है । चेतन ही ज्ञाता है, अनुभूति और अभिव्यक्ति ज्ञान है । अंदर की दुनिया जिसमें हम झांकते हैं और बाहर की दुनिया जिसे हम देखते हैं वही ज्ञेय है । ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय इन तीनों के एकात्मसात् होने पर अनायास, सप्रेम, सश्रद्धा या सविचार जो शब्द निकलते हैं वे ही भाषा-प्रवाह हैं । जीवन-प्रवाह, चेतना-प्रवाह, भाषा-प्रवाह ये तीनों समवर्ती हैं नित्य, निरंतर, नूतन अनादि और अनंत हैं । काव्य, दर्शन, विज्ञान ये चेतना और भाषा के रूपांतर हैं । इतिहास इनका स्मृति-कोश है । इतिहास जड़ और चेतन के निरंतर सान्निध्य की सजीव कहानी है ।

चेतन स्वरूप से निराकार है । जड़ भी स्वरूप से निराकार माना गया है किंतु सृष्ट अवस्था में अनंत रूपों में अभिव्यक्त होता है और उसी के माध्यम से चेतन भी साकार होता है । मानव जड़ और चेतन के सृष्ट सान्निध्य की चरम सीमा है । उसी के आत्मा में ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान का एकात्मत्व चित्तपटल पर लक्षित होता है । वही एकात्मत्व जब भाषा के माध्यम से अभिव्यक्त होता है तो ज्ञाता के अपने गुण-कर्म-स्वभाव के अनुसार कभी ज्ञाता-प्रधान, कभी ज्ञान-प्रधान और कभी ज्ञेय-प्रधान हुआ करता है । ज्ञेय-प्रधान भी विषय-वस्तु के अनुसार कभी चेतन-प्रधान और कभी जड़-प्रधान होता है । पराविद्या चेतन-प्रधान है और अपरा विद्या जड़-प्रधान है । अध्यात्म चेतन-प्रधान है और साइंस जड़-प्रधान ।

चेतना और भाषा के संबंध में जो कुछ कहा गया है उससे ऐसा लग सकता है कि भाषा व्यक्तिनिष्ठ, स्वयंसिद्ध, स्वयं-संपन्न और एकसृष्ट सत्ता है । यह तो सत्य है कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी भाषा का चयन अथवा सर्जन स्वयं करता है किंतु उसके चयन एवं सर्जन की सामग्री अधिकतर उसके परिप्रेक्ष्य से ही उपलब्ध हुआ करती है । जो उसका अपना है वह है उसकी दृष्टि, उसकी अनुभूति, उसकी चेतना, उस चेतना का बिंब, उस बिंब की सामग्री भी अधिकतर उसे अपने परिवेश से ही मिलती है । हम ऐसे भी कह सकते हैं कि जिस प्रकार हमारे शरीर की प्राकृत सामग्री हमें पंचभूत परमाणुओं से मिलाती है वैसे ही हमें अपनी चेतना/अनुभूतियों को